धर्मोपदेश

[प्रथम भाग]

संगृहीता

लाला लब्भूराम नैय्यड़ ।

मूल्य सवा रुपया

प्रकाशन मन्दिर,

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

प्रकाशक—
मुख्याधिष्ठाता,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार ।

द्वितीयावृत्ति—१०००
कार्तिक २००६

मुद्रक—
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार ।

भूमिका

धर्म का उद्देश्य मनुष्य को शान्तिप्रदान करना है। यदि धर्म के कारण संसार का शांतिभंग होता हो तो समझ लो कि वह धर्म नहीं है, बल्कि धर्म का ढोंग है। जो धर्म के प्रचारक और भक्त ऐसा दावा करते हैं, परंतु मनुष्य को मनुष्य से लड़ाने में आनन्द लेते हैं, वे धर्म का दुरुपयोग करते हैं।

चिरकाल से, शायद सदा से ही मनुष्य अपने दोषों को गुणों के पर्दे में छुपाता आया है। वह क्रोध को सत्यप्रेम के नाम से पुकार कर अपने आपको सन्तोष देता आया है। बात बड़े काम की है। इस आत्मप्रतारणा के बल पर मनुष्य अपनी वासनाओं को भी तृप्त कर लेता है, और मोक्ष का अधिकारी भी बना रहता है। आजकल धर्म का यही काम रह गया है कि वह मनुष्य को स्वाभाविक वासनाओं का आवरण बना करे।

प्रायः मनुष्य इस आत्मप्रतारणा का शिकार बना रहता है परंतु कभी किसी घटना से उसे जबर्दस्त ठोकर लगती है। मनुष्य अपने आपको धोखा देता थक जाता है। उस समय वह जिज्ञासु बनकर वास्तविक धर्म की तलाश करता है। वास्तविक धर्म का उद्देश्य मन को शान्ति देना है। जब ऐसे धर्म की

तलाश हो; तब समझ लो कि आत्मा पर से वंचना का पर्दा उठ गया है। वह धर्म को अपने असली रूप में देखना चाहता है।

मनुष्य की उस दशा का ज्वलन्त दृष्टान्त पाठकों को इस संग्रह से मिलेगा। म० लब्भूराम नैयड़ आर्यसमाज के पुराने सेवक हैं। उनका सारा जीवन आर्यसमाज की क्रियात्मिक सेवा में व्यतीत हुआ है। उन्होंने आर्यसमाज की क्रीडास्थली में उस समय प्रवेश किया था, जब वर्तमान संस्था अभी बचपन में थी। उन्होंने आर्यसमाज की संस्था को यौवन में आकर प्रौढ़ता को प्राप्त होते देखा है और उसकी हर एक दशा परिवर्तन में अपनी शक्ति की आहुति दी है। स्वामी—श्रद्धानन्द जी के तो आप प्रधान सहायकों में से थे। सब से बड़ी बात यह है कि आपने जितनी भी सेवा की, निष्काम भाव से की। न कभी ओहदे की अभिलाषा की और न कभी आर्यजाति से सन्मान चाहा। इस प्रकार, एक तेजस्वी सेनापति के सिपाही बनने में ही नैय्यड़ जी ने अपने कर्तव्य का अन्त समझा। जीवन की ढलती दशा में भी आपका आर्यसमाज से हित कम नहीं हुआ। शरीर निर्बल होगया है परंतु मन में उत्साह का समुद्र वैसे ही मौजें मार रहा है।

१६३५ के मई मास में, प्रतिवर्ष की भांति आर्यप्रतिनिधि सभा का वार्षिक चुनाव हुआ। आर्यसमाज सार्वभौम वैदिक धर्म का प्रचारक है, और संसार भर को शान्ति का अमृत पिलाने

का संकल्प रखता है। चुनाव के अवसर पर नैयड़ जी ने लाहौर में जो दृश्य देखे, उन्होंने उनके हृदय पर से प्रतारणा का आवरण उतार दिया। धर्म के प्रचारक तुच्छ पदों के लिये कैसे कैसे धर्मविरुद्ध अनाचार करते हैं, यह देखकर नैयड़ जी की आत्मा सच्ची शान्ति की चाह में तड़पने लगी।

उस समय आप अन्तर्मुख हुए, और सद्धर्मप्रचारक की पुरानी फाइलें उठाकर अपने गुरु स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के लिखे हुए उपदेशों का आपने स्वाध्याय आरम्भ किया। उन उपदेशों में आपको सच्चा शान्ति का निनाद सुनाई दिया। एक धर्म के प्यासे को धर्म का संदेश मिला, एक वंचना के सताये हुये राही को सिर छुपाने की जगह मिली। थोड़ी देर के लिये आत्मप्रतारणा का राज्य नष्ट होगया और सच्ची शान्ति प्राप्त करके नैयड़ जी ने जिस आनन्द का अनुभव किया इस संग्रह द्वारा आपने आर्यसमाज तक उसी के कुछ हिस्से को पहुंचाने का यत्न किया है।

मुझे विश्वास है कि जो पाठक आत्मप्रतारणा के आवरण को उतार कर इस संग्रह का पाठ करेंगे, उन्हें धर्म अपने असली रूप में दिखायी देगा और उनके हृदय को शान्ति प्राप्त हो सकेगी।

१० मार्गशीर्ष १९९२ विक्रमी। इन्द्र

देहली। विद्यावाचस्पति

निवेदन

"सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये"।

संसार का भला करने वाले वे मनुष्य नहीं है जो केवल विद्वान् हैं और न वे मनुष्य हैं जो बड़े बड़े शब्द रटकर लम्बे लम्बे व्याख्यान दे सकते हैं क्योंकि वे मनुष्य जो कुछ कहते हैं उसको मन से अनुभव नहीं करते।

उन ही मनुष्यों के जीवन से जगत् का कल्याण हुआ और हो सकता है जो सदाचारी हैं, नेक हैं और जिनका मन पवित्र है। श्री पूज्यपाद महात्मा मुन्शीराम जी जिज्ञासु (अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज) ने जो अपने हर एक काम में सफलता प्राप्त की उसका कारण उनकी विद्या न थी उनका वकील होना न था और नहीं उनकी मीठी वाणी थी, बल्कि विशेष कारण उनका आचारवान् होना था। वे जो कुछ कहते थे उस पर आचरण भी करते। उनका आत्मा शुद्ध था इसलिए उनके कथन का प्रभाव पड़ता था। जो कोई भी मनुष्य उनका सत्संग करते, वे अत्यन्त प्रभावित होते थे। महात्मा जी अपने कर्तव्य को अनुभव करते हुए ईश्वरीय नियमों और सचाई का निडरता से प्रचार करते थे। वह अपने असल असूल से कभी नहीं डगमगाये। उनका वैदिक धर्म-प्रचार इस कारण सर्व साधारण को प्रभावित करता था कि वे स्वयं दृढ़ता से

अपने जीवन में उसका पालन करते थे। उनका ईश्वर के प्रति विश्वास दृढ़ था। घोर निराशा में भी उन्होंने बलवती आशा का संचार किया था और कितने ही भटकते हुओं को सन्मार्ग पर लगाया था। गहन ग्रन्थों की पिटारियों में बन्द, सिद्धान्तों के सुनहरे आभूषणों से समाज के शरीर को अलंकृत करने की चेष्टा में वह निरन्तर रत रहे।

सधर्म-प्रचारक और महात्मा मुन्शीराम जी से लोगों को जो श्रद्धा और प्रेम था वह उनमें अब तक उसी प्रकार बना हुआ है। मुझे भी और कई महानुभावों की तरह सद्धर्म प्रचारक के पहले अंक से उसके बंद होने तक एक धार्मिक पुस्तक की तरह सुरक्षित रखते हुये उसे पाठ करने का सौभाग्य प्राप्त रहा है। पुराने सद्धर्म प्रचारक पढ़ने के बाद आज भी उनमें लिखे हुये महात्मा जी के धार्मिक उपदेशों से उसी तरह लाभ उठाया जा सकता है।

श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी के वेद, गीता, मनुस्मृति के व्याख्यान तो आप बीती, जगबीती के अनुभवों के कारण हमारे हृदय में घर सा कर लेते हैं। इन प्रवचनों ने मुन्शीराम का जीवन पलट कर श्रद्धानन्द बना दिया। जालन्धर के रईस को ऋषि दयानन्द की दीक्षा ने कमण्डलु धारण करा यतिवर बना दिया और अन्त में प्रभु के धाम—अमर लोक को पहुंचा दिया, उनके उपदेश पढ़ने से जीवनों में पलटा आ सकता है। वीर कर्मयोगी के इस सिंहनाद से आलसी पुरुषों

की तन्द्रा टूट सकेगी और आज तो अशान्त जनता के लिये यह उपदेश पीयूष वर्षी मेघ का काम देंगे।

मैंने पूज्य महात्मा जी के आदेश से प्रेरित होकर जो कुछ सेवा, गुरुकुल कांगड़ी की बन आयी, की। मुझे अधिकतर इस सेवा के योग्य बनाने में उनका ही हाथ था। मेरी हर समय यही इच्छा बनी रहती थी कि उनके चरणों में रहूँ। उनके स्वर्गवास होने के उपरान्त जब भी उनकी स्मृति से मैं उदास होता तो सद्धर्म-प्रचारक और उनकी धार्मिक पुस्तकों के स्वध्याय से चित्त शान्त करता।

देर से मन में यह संकल्प था कि उनके धर्मोपदेशों को सद्धर्म-प्रचारक से संग्रह करके जनता के समक्ष रक्खूँ। ईश्वर की कृपा से अब कुछ समय मिला तो श्रीमती आर्य प्रतिनिधी सभा पञ्जाब (लाहौर) की अर्ध शताब्दी के उपलक्ष में स्वर्गीय अमर शहीद के कुछ उपदेश तीस साल पहले की फाइलों से संग्रह करके अपने कर्त्तव्य का पालन करता हूँ। इसके लिये मैं चिरञ्जीव पं० विष्णुमित्र सिद्धान्तालङ्कार लुधियाना का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपने गुरु (स्वामी श्रद्धानन्द जी) के धर्मोपदेशों को आर्य भाषा में लिखने में सहायता मुझे दी। यदि इन उपदेशों से किसी भाई को लाभ पहुँचे तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

आनन्दाश्रम
लुधियाना, पञ्जाब)

लब्भूराम नैय्यड़

उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥

ऋ० अ० १ । व० २ । मं० ७ ॥

उपदेश

धन्य आपकी दया की वृष्टि ! हम तुच्छ आत्मा, जिससे आप किसी प्रकार की सेवा की आवश्यकता नहीं रखते उसपर ऐसी अपार दया ! आपने नेत्र देकर हमें इस योग्य बनाया कि हम आज आप की विस्तृत सृष्टि में आपकी रचना देख आपके महान ज्ञान के सन्मुख विस्मित हो रहे हैं । आपने कर्ण देकर हमें उस उपदेश को श्रवण करने योग्य बनाया जिसके श्रवण बिना कोई भी मनुष्य अपने ज्ञान की वृद्धि कर आत्मज्ञानी नहीं बन सकता एवं आपकी महिमा को नहीं जान सकता । प्रभो ! आपने जो वाणी दी है उसके द्वारा उपदेश कर हम सहस्रों आत्माओं का हृदयान्ध दूर कर एवं पुण्यभागी बन आप का साक्षात् दर्शन पाने के लिये प्रार्थना कर सकते हैं । जिस में ये इन्द्रियां बनी रहें आपने यह शरीर रूप यन्त्र कैसा अद्भुत बनाया है ? उदान वायु के द्वारा अन्न पान भीतर जाता

है, जिसके विकृत भाग को अपान वायु बहिष्कृत करता है और सार भाग को समान वायु क्रमशः रक्त रूप में परिणत करता हुआ लक्षोंनाड़ियों में विस्तृत कर देता है। इस रक्त के विकार का फेफड़ों द्वारा प्राणवायु बारम्बार परिशुद्ध करता हुआ उसे शरीरावयवों के पोषण के उपयुक्त बनाता है जिससे इस शरीररूप यन्त्र में बैठा हुआ आत्मा अपने कार्य्यों को सिद्ध करता रहता है। भगवन्! एक क्षण भी तो ऐसा नहीं है जिसमें आपकी कृपा का फल हम न भोगते हों। प्रति श्वास में आपका ही वायु लेकर सुखी होते हैं फिर प्रति श्वास में आपको नमस्कार क्यों न करें। इस पृथिवी के छोटे छोटे कण वियुक्तावस्था में हमारे व्यवहार के अयोग्य थे। आपने उन्हें पृथिवी रूप में परिणत कर और इस पृथिवी पर नानाप्रकार के फलफूल कन्दमूल उत्पन्न कर हमारी रसना के द्वारा हमें कितना सुख पहुंचाया?

पिता पुत्रवत् हमें पोषण करने वाले! आपकी असीम कृपाओं का कहां तक हम वर्णन करें? सच्चे सम्बन्धी तो आपही हमारे हैं। पूर्व जन्म के शरीर, स्थान, प्यारे पिता माता सभी से सम्बन्ध टूट गया परन्तु आप के कृपामय शरण में जिस प्रकार पूर्व जन्म में सुख भोगते थे उसी प्रकार इस जन्म में भी भोग रहे हैं। आप जैसे दयामय पिता का एक बार दर्शन पाते! आप हैं तो हम आत्मा में ही विद्यमान,

परन्तु हाय ! हमारे पाप इतने बढ़े कि हम अपने में ही आप का दर्शन नहीं पाते। अनात्मा में फंसकर हम ने आत्म-स्वरूप को विस्मृत कर दिया है। पिता ! प्रकृति की ओर से ध्यान खींच लेने की शक्ति प्रदान करो जिसमें आत्मस्थ होकर हम अपने में ही आपको पा जावें और फिर प्रतिदिन आप ही की उपासना करते रहें।

प्यारे पाठक गण ! प्राणायाम से मन को शिथिल कर प्रत्याहार और धारणा की साधना कीजिये। हम हैं, न अन्न-मय कोष, न मनोमय कोष और न ज्ञानेन्द्रियां, प्रत्युत हैं हम एक सूक्ष्म चेतन सत्ता। हमें अपने में ही अपने प्रभु को खोजना है अतएव हम अपने प्रभु के ध्यान में कैसे निमग्न हों जब तक कि हम प्रकृति का ध्यान न छोड़देवें। क्या हम अपने मनुष्य जीवन को योंही बीतने दें और अपने प्रभु को हृदयङ्गम न करें ?

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे प्रकाश स्वरुप परमात्मन् (धिया) ज्ञान प्रकाश के लिये (वयम्) हम सब (त्वा) आपकी (दिवे दिवे, दोषावस्तः) प्रतिदिन रात (नमो भरन्तः) नमस्कार करते हुए विनय के साथ (उप एमसि) उपासना करते हैं।

२

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, तं देवतानां परमञ्च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परम पुरस्तात विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

श्वेताश्वेतरोपनिषद् अ० ६ म० ७

उपदेश

क्या यह पुरुष जिसे अपनी शक्तियां प्रयोग में लाने का मौका ही नहीं मिला या वह जो सचाई के मार्ग से भटका हुआ है जिसने अपनी शक्तियों को अनुचित रूप से प्रयोग किया है ? क्या वह कभी भी सर्वशक्तियों के मालिक को जान सकता है ? पहले इसके कि सर्वशक्तिमान् की महानता को समझने का साहस कर सके, मनुष्य के लिये आवश्यक है कि वह स्वयं, शक्ति की महानता को अनुभव करके उसका उचित प्रयोग सीखे और उस पर आचरण करे। कौन मनुष्य है जिसे ताकत अन्धा नहीं कर देती !

"अस नर कोउ उपज्यो जग नाहीं। प्रभुता पाय जाहि मद नाहीं।" मनन शील, सच्चा मनुष्य वही है जिसने ताकत के रहस्य को समझा है। इन्द्रियों की दासता में फँसे हुये, विषयों की मजबूत, जंजीरों के अन्दर जकड़े हुये, पशु भाव को प्राप्त हुये पुरुष अविद्या के गढ़े में गिर कर समझ लेते हैं कि विषयों को अन्धाधुन्ध भोगना ही ताकत का प्रगट करना है। जिन वीर पुरुषों ने अपने मन को हर प्रकार के मल विक्षेप और आवरण से पृथक् करके परमपिता के केवल चौथे जागृत पाद

पर ही विचार किया है और इसकी विचित्र महिमा के लेशमात्र भी दर्शन किये हैं, उनका अनुभव है कि आनन्द ताकत को नष्ट करने में नहीं है, अपितु उसके सुरक्षित रखने के अन्दर ही सच्चा आनन्द है। परमात्मा क्यों आनन्द स्वरूप हैं ? इसलिये कि सांसारिक कर्म बन्धन के अन्दर फंसना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। अतः सामर्थ्य के अभिलाषियों के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि परम शक्तिमान् परमात्मा के शक्ति स्वरूप को अनुभव करने का प्रयत्न करें।

फिर उस परमात्मा के दैवीय स्वरूप के दर्शन कौन कर सकता है ? जो स्वयं प्रकाश से अलग रहता है, जिसने अपनी आयु अन्धेरे में नष्ट की है, वह सब प्रकाशकों के प्रकाशक, महादेव को कैसे जान सकता है ? प्रकाशस्वरूप तक पहुंचने के लिये सबसे पहले हृदय के अन्दर प्रकाश को धारण करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। किसी शीशे के अन्दर प्रकाश का ठीक् यथार्थ प्रकाश होता है। उसके अन्दर नहीं जिसके मुंह पर मैल ने चमक ही बाकी नहीं छोड़ी ? परम रक्षक परमात्मा को किसने समझा है ? जिसने दीनों को दबाने में अपनी शक्ति को नष्ट किया है और अनाथों के लूटने में ही पुरुषार्थ को खर्च किया है वह रक्षा धर्म को क्या समझ सकता है ? जिस की हमदर्दी का क्षेत्र विस्तृत नहीं हुआ ? जिसने मनुष्यों को ही केवल अपना भाई समझ कर बेज़बान पशु पक्षियों की गर्दन पर बिना कारण छुरी चलाना अपना हक समझा हुआ है, वह क्या

समझ सकता है ? परमात्मा की उस शक्तिको, जिसके द्वारा वह सारे संसार की रक्षा करते हैं किसने समझा है ? संसार में अनगिनत मनुष्य हैं जो मन द्वारा शक्ति के पृथक् पृथक् पहलुओं पर विचार कर सकते हैं लेकिन उनके अन्दर एक मूर्ख नेकनियत इन्सान जितनी शक्ति भी नहीं हैं। सैकड़ों दार्शनिक विद्वान् हैं जो आकाश के हरेक बाह्य प्रकाश को बड़ी खूबी से बयान कर सकते हैं। परन्तु यदि वे अपने मन के अन्दर के भावों को प्रगट करें, तोउसके अन्धकार का केवल विचार करने से ही शरीर कांप उठता है। मैंने हजारों सुडौल और दृढ शरीर धारी देखे जो कुश्ती के हर किस्म के दाव पेच में निपुणता रखते हुये भी दूसरों की तो और रही, अपने शरीर की रक्षा के योग्य भी न सिद्ध हुये। इसका कारण क्या है ? यही कि केवल ज्ञान से उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि जब उसके साथ साधन और कर्तव्य सम्मिलित हो जायें, तब मनुष्य जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करता है। विद्या विना आचरण के, बजाय सुख के, दुःख का साधन बन जाती है। इस लिये अगर शक्तिमान्, प्रकाशस्वरूप, परमरक्षक परमात्मा तक पहुंचना है तो शक्ति, प्रकाश और रक्षा धर्म को अपने अन्दर धारण करो।

शब्दार्थ—

(**ईश्वराणाम्**) शक्तिमानों में (**तं परमं महेश्वरम्**) उस परम शक्ति (**देवतानां**) देवताओं में (**तपरमं दैवतम्**) उस बड़े देव (**पतीनां**) रक्षकों में (**तं परमं पतिम्**) उस परम रक्षक (**भुवनेशम्**) सारे संसार के मालिक (**ईड्यम्**) स्तुति योग्य (**देवम्**) देव को (**पुरस्तात्**) सर्व प्रथम (**विदाम**) हम जानें।

३

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥
गीता १७ १४ ॥

उपदेश

तप की महिमा प्राचीन ऋषियों ने अपने शास्त्रों में स्थान स्थान पर की है। वेदों की व्याख्या करते हुये, एकान्त में बैठे हुये, अपने शिष्यों को ब्रह्माण्ड का रहस्य बतलाते हुये वे यही समझाते थे कि सृष्टि की उत्पत्ति में भी तप का ही बड़ा भारी हाथ है। तप कहते हैं असीम दृढ़ता को। और उसी परमात्मा के गुण का परिणाम रूप प्रकृति का रूप में आना है। यह तप का विचार यहां तक आर्यों के अन्दर घर कर चुका था कि पौराणिक घोर अंधकार के समय में भी पार्वती के तप का जिक्र करते हुये तुलसीदास ने निम्नलिखित चौपाई नारद के मुंह से पार्वती के उपदेश के लिये कहलायी है।

'तप बल रचिय प्रपंच विधाता। तप बल विश्व सकल जगत्राता।
तप बल शंभु करें संहारा। तप बल शीश धरें महि भारा।
"तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहु जाय तप यह जिया जानी"

सारा ब्रह्माण्ड ही तप के सहारे खड़ा है, महामुनि पंतजली ने अपने योगशास्त्र में पहली क्रिया योग का वर्णन करते हुये, तप की प्रधानता जतलायी है। अतः जीवन उद्देश्य रूपी लक्ष्य के मार्ग पर चलने के अभिलाषियों के लिये आवश्यक है कि वह सबसे पहले तप की असलियत को समझे। मालूम रहे कि वेदधर्म के अनुया यी, सदैव से प्रत्येक कर्तव्य को तीन भागों में बांटते हैं; अर्थात् मन, वाणी और कर्म सम्बन्धी। सबसे पहले शारीरिक तप कावर्णन कृष्ण भगवान् ने किया है, और वह इस लिये कि अभ्यास के लिये शारीरिक तप सबसे सुगम है। सबसे पहले बुद्धिमान द्विजों की पूजा लिखी है और वह इसलिये कि द्विज दो जन्मों के कारण सर्वसाधारण से बुद्धिमान होंगे। गुरु की पूजा और फिर अन्य विद्वानों की पूजा, चाहे वे जन्म से कैसे ही क्यों न हों। इस तीन प्रकार के मनन करने वाले विद्वानों की पूजा अभ्यास इसलिये करना चाहिये,ताकि जहां एक तरफ अभिमान का नाश हो, वहां दूसरी तरफ ऐसे तपस्वी मनुष्यों के सत्संग से अपने में अच्छे गुण आवें। यही कारण था कि गुरु की शारीरिक सेवा को विद्यार्थी के कर्तव्य कर्मों में से बहुत बड़ा कर्तव्य कर्म बतलाया जाता था। अपने गुरु श्री स्वामी विरजानन्द जी के स्नान के लिये महान् दयानन्द का स्वयं प्रेम से जमुना जल भर कर लाना, इसी नियम पर आश्रित था। अपने शरीर से दूसरे की सेवा करना, यह शारीरिक तप का आरम्भ है। जो

सेवक नहीं बना वह कभी प्रभु नहीं बन सकता । इस का स्पष्ट परिणाम यही होगा कि शारीरिक पवित्रता, स्वयमेव मनुष्य में पहुच जायेगी । पवित्र मनुष्यों की संगति में रह कर मनुष्यों को पवित्र रहने के लिये किसी मौखिक उपदेश लेने की आवश्यकता नहीं रहती । जब सत्संग में रहकर मनुष्य के अन्दर शारीरिक पवित्रता का गुण आ जाता है तब उसके लिये अपने अंगोंको सरल सीधा रखना कठिन नहीं रहता । परन्तु प्रश्न हो सकता है कि अंगों को सरल सीधा रखने का जीवन के उद्देश्य से क्या संबन्ध है ? इसके समझने के लिये अहिंसा व्रत के धारण की आवश्यकता है । बांकेपन से रहने का धर्म से बड़ा भारी वैर है । जो अकड़ कर चलता है और दिखावे का आदी है, वह किसी न किसी प्राणी का दिल दुखाये बिना नहीं रह सकता । अहिंसा का पालन कठिन है, जब तक मनुष्य वीर्य रक्षा नहीं कर सकता ।

बस, जीवन उद्देश्य की ओर ले चलने के लिये जिस प्रकार सामग्री जीवात्मा को मिली है उस में इस शरीर का साधारण दर्जा है उसे ठीक रखना मुमुक्षु का पहला कर्तव्य है । इसका अभ्यास करना यद्यपि कठिन है परन्तु आरम्भ करने पर उसके अन्दर स्वयं सफलता हो जाती है । सब से पहले चतुरता के साथ गुरु और विद्वानों की तलाश करनी चाहिये । यदि परखने से कसौटी पर ठीक उतरें तो उनके सत्संग के योग्य बनने का यत्न करना चाहिये । मान अपमान का विचार त्याग

करके ऐसे महापुरुषों की शारीरिक सेवा करते हुये, धीरे धीरे अपने शरीर को शुद्ध रखने का स्वभाव पड़ जायेगा। ऐसे आलस्य का ख्याल छोड़ देना चाहिये कि सरदी की ऋतु में एक दिन न स्नान करने से क्या बिगड़ सकता है। एक दिन के व्यायाम छोड़ने से क्या हानि हो सकती है। एक बार अशुद्ध अन्न खाने से क्या बिगाड़ हो सकता है। नियम पूर्वक शरीर के सब अंगों को शुद्ध रखना चाहिये और फिर बांकेपन को छोड़कर शरीर को सरल सीधा रखने का स्वभाव डालना चाहिये। इससे ब्रह्मचर्य की रक्षा में भी बहुत सहारा मिलेगा। अनुभव बतलाता है कि जिनके शरीर शुद्ध हैं उनके मन भी बहुत हद तक शुद्ध रह कर, काम चेष्टा को रोकने का साधन सिद्ध होते हैं। जब देवपूजा से शुद्ध होकर मनुष्य अपने अङ्ग प्रत्यंगों को वश में रखता हुआ, वीर्य रक्षा करके बलिष्ट होगा, तब उसके लिये अहिंसा धर्म का पालन एक स्वाभाविक बात हो जायगी। उसे सारे संसार को मित्र बनाने में किसी परिश्रम की आवश्यकता न होगी।

शब्दार्थ—

(**देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्**)बुद्धिमान् द्विजों, गुरु और विद्वानो की पूजा, (**शौचम्**) शारीरिक पवित्रता, (**आर्जवम्**) अङ्ग सीधे रखना, (**ब्रह्मचर्यम्**) ब्रह्मचर्य (**अहिंसा च**) और अहिंसा का पालन (**शारीरं**) यह पाच शारीरिक (**तप उच्यते**) तप कहलाते हैं।

४

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मय तप उच्यते ॥

ग.ता १७. १५ ॥

उपदेश

शारीरिक तप जहां अपने आप तक सीमित रहता है वहां वाणी का तप अपना चेत्र विस्तृत कर लेता है। वाणी का सम्बन्ध दूसरे प्राणियों से अधिक रहता है। पहली विशेषता वाणी के तप की यह है कि ऐसा तपस्वी जो शब्द मुंह से निकाले उसमें कठोरता का लेश मात्र भी न हो। वाणी साधन है एक मनुष्य के विचारों को दूसरे के मन तक पहुंचाने का। किन्तु कठोर वचन से बोलने का असल अभिप्राय नष्ट होजाता है। जिस मनुष्य तक तुम किसी सचाई को पहुंचाना चाहते हो, अगर वह तुम्हारी बात सुनने के लिये तय्यार ही नहीं होता तो तुम्हारी बात करने का क्या लाभ ? किन्तु केवल कठोर वचन को छोड़ने से ही काम नहीं निकलता। कठोर बोलने से तुम्हारे छुटकारे का केवल परिणाम यही हो सकता है कि तुम्हारे भाषण से दूसरा घृणा न करेगा। परन्तु मतलब

उस समय तक सिद्ध नहीं होता जब तक वह मनुष्य जिसे तुम अपनी बात सुनाना चाहते हो तुम्हारी तरफ आकृष्ट न हो जावे। इस आकर्षण का कारण क्या हो सकता है? किस आचरण से दूसरे मनुष्य की रुचि स्वयं तुम्हारी ओर खिंच सकती है। विशेष पुरुषों के भाषण में विशेष प्रकार का रस होता है, इसके कारण उनका कठोर भाषण भी सुनने के लिये लोग मजबूर हो जाते हैं। इसका रहस्य क्या है? कृष्ण भगवान् उत्तर देते हैं, अपनी वाणी को प्रिय बनाओ। प्रेम भाव उसके अन्दर कूट कूट कर भर दो। फिर मनुष्यों के दिल तुम्हारे कथन की तरफ स्वयं खिंचे चले आवेंगे। जिस कथन के अन्दर यह शक्ति है कि तुमसे समाज को दूर फेंक दे उसी कथन के अन्दर यह शक्ति भी है कि वह हृदयों को खींच कर तुम्हें सौंप दे। माना कि कथन में सख्ती न होनी चाहिये और यह भी मान लिया कि तुमने अपने कथन को दूसरों के लिये प्यारा बना दिया परन्तु जब तक वह कथन हितकारी नहीं, जब तक मनुष्य की भलाई के हेतु से नहीं बोला जाता तब तक उसका वास्तविक फल तुमको नहीं मिल सकता। संसार में बड़े बड़े मधुर भाषी हो चुके हैं जिनके मधुर भाषण का सारा बल मनुष्यों की उन्नति में लगता रहा है। जिस तरह विद्या एक प्रबल शक्ति है उसी तरह वाणी भी एक प्रबल शक्ति है, जिसके द्वारा विद्या का प्रकाश होता है। परन्तु जिस तरह विद्या एक दो धारा वाली तलवार की तरह दोनों तरफ

चलती है, वही अवस्था वाणी की है। स्वार्थ सिद्धि के लिये कही हुई प्रिय वाणी संसार में हलचल मचा देती है। परन्तु वही प्रियवाणी जब संसार के उपकार के लिये बोली जाती है तो अनगिनत मनुष्यों के लिये शान्ति का कारण होती है। सत्य यह है कि स्वार्थ सिद्धि के लिये बोली हुई वाणी चाहे कैसी ही प्रिय क्यों न हो, उसका बल केवल दिखलावे का ही होता है, उसका प्रभाव देर तक नहीं रहता। किन्तु जिस वाणी का प्रयोग प्राणधारियों के लिये होता है उसके अन्दर स्वाभाविक बड़ा बल है। क्या वाणी की विशेषतायें यहां तक ही समाप्त हो जाती हैं ? बिल्कुल नहीं। चाहे वाणी कैसी भी कठोरता से रहित हो, चाहे कैसी प्यारी और कितना ही परोपकार करने वाली हो, अगर उसकी नींव सत्य पर नहीं है तो वह मनुष्य का कर्तव्य कर्म नहीं है।

वह सत्य जिस पर सारा ब्रह्माण्ड आश्रित है, वही वाणी का भी आधार है। प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है—

"क्या दुःखित मनुष्य के सन्मुख सत्य बोलकर उसे और दुःखित करना हित कहला सकता है ?" यह प्रश्न अविद्या के कारण हम मनुष्य के हृदयों के अन्दर उठता है। यह समझना हमें कठिन नहीं है। जो सत्य नहीं वह सर्व हित के लिये कैसे हो सकता है ? हितकारी क्या है ? हम यहां तक तो पता नहीं लगा सकते कि हमारे लिये क्या हितकारी है। फिर यह पता लगाना कैसा कठिन है कि दूसरों के लिये हितकारी क्या है ?

इसलिये हरेक वाणी को उचित अनुमान लगाने के लिये उसे केवल सत्य की कसौटी पर रखना ही पर्याप्त है। अगर सत्य बोलने के लिये वाणी में सख्ती का आना आवश्यक है तो आने दो, किन्तु सचाई को विशेष मनुष्य के हित के लिये कभी भी न्योछावर न करो ; यह ऋषियों का उपदेश है। उपदेश बड़ा लाभकारी है। किन्तु इस पर चलें कैसे ? इसका उत्तर ऋषि मुनि सदैव से एक ही देते आये हैं। जिस तरह दूसरे कर्तव्य कर्मों में दृढ़ होने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है उसी तरह वाणी भी तभी ठीक हो सकती है जब कि उसकी पवित्रता के लिये विशेष अभ्यास किया जावे। और वह स्वाध्याय से बढ़कर और अभ्यास हो नहीं सकता। नित्य वेदों का अर्थ सहित पाठ करना ही स्वाध्याय कहलाता है। आज वेदार्थ का समझना तो दूर रहा आर्यों में से दस प्रतिशतक भी वेदों का पाठ तक नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में उनको चाहिये कि ऋषि प्रणीत धर्मग्रन्थों का पाठ नियम से करें। प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर शारीरिक व्यायाम और स्नान के पश्चात पहला कार्य ब्रह्मयज्ञ है। परमात्मा के सत्संग से मन को स्थिर करके शारीरिक स्वास्थ्य के लिये देवयज्ञ अर्थात अग्निहोत्र के पश्चात स्वाध्याय का समय है। यदि और धर्मग्रन्थ नहीं समझ सकते तो न्यून से न्यून जिस भाषा को समझ सकते हैं उसमें लिखे हुये सत्पुरुषों के उपदेश का पाठ अवश्य किया करें। आर्यसमाज के सदस्यों के लिये ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश

और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका बड़ा रास्ता दिखाने का काम दे सकते हैं। जो मनुष्य इससे आगे बढ़ना चाहते हैं वे वेद भाष्य का विचार आरम्भ कर सकते हैं। स्वाध्याय मनुष्य को गिरते गिरते बचा सकता है। इसलिये वाणी को कठोरता रहित करने, उसे प्रिय, हितकारी बनाने और सत्य के सीधे सरल मार्ग से न डगमगाने देने के लिये आवश्यक है कि स्वाध्याय का कभी त्याग न किया जाय। हर देश, प्रत्येक सम्प्रदाय और प्रत्येक समय में महापुरुषों ने स्वाध्याय पर बड़ा भारी बल दिया है। वाणी के तप के बिना शारीरिक तप की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये वाणी को पवित्र करो। उसे सत्य से मांजकर प्रिय और हितकारी बनाओ जिससे संसार के अन्दर सुख और शान्ति का राज्य आवे और हम सब प्रेम पूर्वक एक दूसरे के आत्मिक बल को बढ़ाते हुये मुक्तिधाम में परमानन्द लाभ करने के अधिकारी बन सकें।

शब्दार्थ—

(**अनुद्वेगकरम्**) कठोरता से रहित (**सत्यम् प्रियहितं च**) सत्य, प्रिय तथा हितकारी (**यत् वाक्यम्**) वचन बोलना (**च**) और (**स्वाध्यायाभ्यसनम्**) नियम से उत्तम ग्रन्थों का पाठ करना (**वाङ्मयं तपः**) यह वाणी का तप (**उच्यते**) कहलाता है।

❀ ❀
❀

५

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

मनु० अ० १२ श्लोक १४

उपदेश

मानस तप के बगैर शरीर और वाणी के तप स्थिर नहीं रह सकते क्योंकि मन ही इन सब का आधार है। मन के द्वारा ही जीवात्मा वाणी और शरीर पर शासन करता है। सबसे प्रथम मन की प्रसन्नता आवश्यक है। मन को आनन्द जब तक नहीं तब तक इन्द्रियां और शरीर समता में नहीं रहते और इसलिये अपने कर्तव्य को पूर्ण नहीं कर सकते। किन्तु मन को यहीप्रश्न हो ? आनन्द कैसे तो प्राचीन सब महापुरुषों को चक्कर में डालता रहा और आज उससे ज्यादा भंवर में डाल रहा है। अनुभवी ऋषियों ने बतलाया है कि मन के एकाग्र करने के लिये मन का आनन्द आवश्यक है और इस आनन्द के लिये विशेष साधन आवश्यक हैं। सबसे पहला कर्तव्य मन के आनन्द के लिये यह है कि मित्रता उनसे की जाय तो वास्तव में सुखी हों।

दिखावे के सुख में और वास्तव के सुख में भेद है। सुखी के साथ मित्रता का यही परिणाम, संसार में दुःखियों के प्रति वैर भाव समझा जायगा। परन्तु ऋषियों का ऐसा सिद्धान्त नहीं है। वे दुःखी पर दया का आदेश करते हैं। दुःख के कारण जो काम, क्रोध इत्यादि दुर्गुण हैं उनसे जिस कदर, घृणा की जाय उचित है। उन्हें जिस कदर दबाया जाय ठीक है। परन्तु जो मनुष्य हमारा भाई इन बुराईयों में फंसकर दुःखी हो रहा है उससे घृणा करना मनुष्यत्व से गिरना है। मानस तप मनुष्य के पद से बढ़ कर देवता के पद पर पहुंचने का साधन है। इसलिये जिस किसी को दुःखी देखो उस पर दया करो और पूर्ण सहानुभूति से उनके साथ व्यवहार करो। जिस किसी नियतात्मा को देखो उसके आचरण को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो। उसके साथ एकता का प्रकाश करो। क्या परमात्मा को देखकर उससे विरोध तथा घृणा करनी चाहिये ? कदाचित् नहीं। यदि परमात्मा ने तुम्हें शक्ति दी है तो उसे बुरे मार्ग से हटा कर, सीधे मार्ग पर लाने का यत्न करो। अपने गिरे हुये भाई को उठने के लिये सहारा दो। यदि इतना सामर्थ्य नहीं है तो उससे कोई संबन्ध न रक्खो। इन साधनों को नियम पूर्वक पालने से मन को आनन्द की प्राप्ति हो सकती है और जब मन में आनन्द है तो इन्द्रियां भी इधर उधर नहीं होसकतीं और न ही शरीर की अवस्था इन्द्रियों को अशक्त करने के योग्य हो सकती है।

इस पहले साधन से मन शान्त होकर दूसरों के लिये आकर्षक बन जायगा। स्वभाव के स्वभाव के आने से संसार को विजय करना कुछ कठिन नहीं होता। दिलों को खींचने की शक्ति मनुष्य को बड़े बड़े उपकार के लिये तय्यार कर सकती है। इस गुण को अपने अन्दर धारण करने के लिये भी बड़े भारी साधनों की आवश्यकता है। अभ्यास इस का मूल है। तुम्हारा मन चाहे हाथ से जा रहा हो परन्तु यदि आत्मा को दृढ़ करके जाते जाते मन को भी वश में करने का दृढ़ यत्न हो तो मन काबू में आ सकता है। इस अवस्था में पहुँच कर मौन रहना एक विशेष गुण साबित होता है। यही कारण था कि प्राचीन आर्य ऋषियों की ब्रह्मचारियों को दी अन्य आज्ञाओं में एक यह आज्ञा भी थी कि बोले कम और सुने ज्यादा। एक मौन न केवल हज़ार अवगुणों पर परदा डालता है बल्कि लाखों मन में आये हुये पापों से बचाता है। जब तक मनुष्य किसी विचार को मुंह से प्रगट नहीं करता तब तक उस पर आचरण करना उसके लिये रुकावट से खाली नहीं होता। बुराई को बार बार मुंह से निकालना मनुष्य को लज्जित करता है। न केवल यही, बल्कि एक विद्वान् का कथन ठीक है कि मुख से निकला हुआ वचन, धनुष से छूटे हुए तीर की तरह फिर लौट कर नहीं आता। आह ! पुरानी घटनाओं को स्मरण कर हरेक मनुष्य कितने समयों की बेमौका वार्तालाप से लज्जित होता है और उसके परिणामों को स्मरण कर पश्चात्ताप करता है जब तक

चुप रहने के स्वभाव का अभ्यास नहीं किया जाता तब तक हर समय बोलन की इच्छा बनी रहती है। चुप रहने का बड़ा भारी लाभ यह है कि उसके आचरण से मनुष्य भूल करते करते रुक जाता है। विषय दिन रात इन्द्रियों को अपनी ओर खींचते हैं। उनसे बचने का उपाय सिवाय इसके और कोई नहीं है कि मन को वश में किया जाय और मन को वश में करने में मौन बहुत कुछ सहायता देता है, इसी तरह पर जीवन व्यतीत करता हुआ मनुष्य नेकनियत हो जाता है, जिस पर कि भविष्य की भलाई आश्रित है। क्या सन्देह है कि तप के बिना साधारण से साधारण काम जब सिद्ध नहीं होता तो जीवन का सच्चा उद्देश्य कब पूर्ण हो सकता है? जिस तप के प्रभाव से बड़े बड़े चक्रवर्ती महाराजे, करोड़ों के भाग्य का निर्णय करते हैं, जिस तप के प्रभाव से योगीजन अमृतधाम की ओर चलते हैं, उस के प्रभाव को जिसने नहीं समझा, और उसके नियमों के पालन करने में जिसने अपना सारा बल नहीं लगाया, वह संसार के भंवर चक्कर से कैसे निकल सकता है?

शब्दार्थ—

(मनः प्रसादः) मानसिक प्रसन्नता (सौम्यत्वं) स्वभाव में सौम्यता (मौनम्) मौन (आत्मविनिग्रहः) विषयों से अपने मन को रोकना (भाव संशुद्धिः) नेकनीति से परस्पर वरताव (इत्येतत्) यह सब (मानसं तपः) मानसिक तप (उच्यते) कहलाता है।

६

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥

गीता १२, १५ ॥

उपदेश

'शरीर' 'वाणी' और मन तीनों से करने योग्य जो तप हैं उनका सेवन मनुष्य को नित्य करना उचित है। अतः अनुभवी, योगी आदेश देते हैं कि फल भोग की इच्छा को त्याग कर इन तपों का करना जिज्ञासु के आचरण को सात्विक कर्म की सीमा तक पहुंचाता है और सात्विक कर्म करते हुये ही मनुष्य अन्त में बन्धनों से छूट जाता है। इसलिये निष्काम कर्म करना ही मनुष्य का सबसे पहला धर्म है। सकाम कर्म अर्थात फल की इच्छा से किया हुआ कर्म तो बराबर नाश होता चला जाता है। जो कर्म सिद्धि के इच्छा से किये जाते हैं, उनका अन्त इसकी प्राप्ति के बाद हो जाता है। इनमें से कोई कर्म भी बाकी नहीं रहता जो मनुष्य को इस संसार से आगे ले चले। परन्तु निष्काम कर्म की महिमा बड़ी है। जो कर्म, फल भोग की इच्छा को छोड़कर किये जाते हैं, उनका बल दिन प्रति दिन बढ़ता ही रहता है और अन्ततः इस प्रकार बढ़ जाता है कि बिना इच्छा के ऐसे निष्काम कर्म करने वाले को हरएक प्रकार की सिद्धि प्राप्त हो जाती है कि कृष्ण भगवान् ने स्थान स्थान पर कर्तव्य करने का आदेश देते हुवे अर्जुन को समझाया है कि

अपने किये हुये कर्मों के फल भोगने की अभिलाषा मत करो। सांसारिकराज्य के प्रबन्ध से भी हमें मार्ग दिखलाने के लिये यही शिक्षा मिलती है कि जो राज्य का कर्मचारी किसी विशेष स्वार्थ को लेकर काम करता है उसका वही स्वार्थ पूरा किया जाता है और उससे आगे उसे कुछ नहीं मिलता। परन्तु जो मनुष्य केवल अपने आत्मा को प्रसन्न करने और उसकी आज्ञा को यथार्थ पालन करने को ही अपना उद्देश्य समझता है उससे जहां उसका प्रभु प्रसन्न हो जाता है वहा वेतन वृद्धि, पारितोषक आदि सब काम स्वयं ही पूर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने कर्तव्य, परमात्मा के नियमों के पालन, को मुख्य समझता है वह न स्वयं परमात्मा को ही प्राप्त होता है बल्कि जिन सुखों के प्राप्त करने के लिये सांसारिक पुरुष भटकते फिरते थे उनको भी बगैर मांगे हुए प्राप्त कर लेता है। इस संसार में जो इतनी अशान्ति और व्याकुलता फैल रही है उसका बहुत कुछ कारण यह है कि सर्व साधारण पुरुष हरएक काम को सकाम भाव से करते हैं। एक आदमी सच बोलता है। क्या इस लिये कि सच बोलना उसका कर्तव्य कर्म है? कदाचित् नहीं, बल्कि इसलिये कि सत्य बोलने से उसका कोई अभिप्राय सिद्ध होता है।

यह कथन साधारण बात है "मुझे झूठ बोलने से क्या लाभ"? अर्थात् यदि कोई लाभ हो तो झूठ बोलने में भी कोई संकोच नहीं। शोक यह है कि अविद्या में फंसे हुये हम लोग अपने

हानि लाभ को नहीं समझते। देश के अन्दर दुर्भिक्ष पड़ा हुवा है, हज़ारों लाखों हमारे भाई भूखों मर रहे हैं। क्या हम इस लिये उनकी सहायता के लिये जाते है कि उनकी सहायता करना हमारा कर्तव्य है? यदि यह होता तो हम समाचार पत्रों में तार द्वारा इन खबरों को न छपवाते कि हमने इस कदर आदमी दुर्भिक्ष से पीड़ितों के लिये भेजे। भूकम्प ने कांगड़े को नष्ट कर दिया था। चारों ओर से सहायता की पुकार हुई। जो मनुष्य दुखियों की सहायता के लिये गये, उन्होंने अपनी प्रसिद्धि का नरसिंहा बड़े बल से फूंका। कई समाजों के सदस्यों ने दुखियों को सहायता देने की अवस्था में अपने चित्र खिंचवाये और उन्हें समाचार पत्रों में छापा। मुझे यह मालूम हुआ कि एक रईस धनाढ्य भी दुखियों की सहायता के लिये गये। संभवत: कई समाजों से ज्यादा उन्होंने उन्हीं दिनों धन खर्च किया और स्वयं जाकर दुखियों की धन से सहायता की परन्तु न तो उन्होंने अपना नाम कहीं छपवाया और न ही सरकार के खास धन्यवाद प्राप्त करने का यत्न किया। सरल आत्मा ने जो कुछ किया, अपना कर्तव्य समझ कर किया। मैंने जब इस भद्र पुरुष का वृत्तान्त सुना, रोमांच हो गया; गद् गद् प्रसन्न हुवा। लोग ख्याल करते हैं कि कर्तव्य का पूर्ण करना कठिन है। अनुभव बतलाता है कि इस से बढ़ कर आसान और कोई कार्य नहीं। हां, साधनों में पड़कर हम लोगों ने स्वयमेव अपने आपको अपने कर्तव्य के पालन करने के योग्य नहीं छोड़ा। हम यदि किसी भूखे को रोटी देते

हैं तो अपनी प्रशंसा की इच्छा से। अगर किसी परोपकार के काम में सम्मिलित होते हैं तो आशा यह रखते हैं कि जनता की ओर से हमारी सेवा में अभिनन्दन पत्र पेश किया जाय, हमारी सवारी निकाली जाय और सारे संसार में हमें प्रसिद्ध किया जाय। शोक! हम यह नहीं समझते कि इस प्रकार का दिखावा भी अब ऐसा हो गया है कि अब इसका आम जनता की दृष्टियों में कुछ मूल्य नहीं रहा। और देखिये! ऐसे सकाम भाव से किये कामों में दुःख किस कदर होता है। फल की ओर आंखों का लगा रहना क्या कुछ कम कष्ट है? जिन्हें फल की अभिलाषा नहीं, वे हर समय प्रसन्न रहते हैं। काम करते हैं, उनकी चिन्ता दूर हो जाती है। अपने कर्तव्य के पूर्ण करने के बाद उन्हें परिणाम पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा ने हमारे कर्तव्य हमें स्पष्ट बता दिये हैं। सृष्टि में उसके नियमों को ध्यान पूर्वक देखो। तुम्हारे लिये तुम्हारा कर्तव्य स्पष्ट प्रगट हो जाता है। इस कर्तव्य के पूरा करने से बढ़ कर और कोई कर्तव्य न समझो, तब तुम्हें शान्ति मिल सकेगी।

शब्दार्थ—

(अफलाकांक्षिभिः नरैः) निष्काम भाव से, बिना फल की इच्छा के, जो मनुष्य (त्रिविधं तत् तपः) पहले वर्णन किये गये शारीरिक, वाङ्मय और मानसिक तप को (परया श्रद्धया) परम श्रद्धा के साथ (तप्तम्) सेवन करते हैं (युक्तैः) आचरण शील विद्वान् (**सात्विकम् परिचक्षते**) उस तप को सात्विक तप कहते हैं।

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य, वर्तते कामचारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ॥

गीता १६. २३.

उपदेश

जन्म दिन से ही बालक के लिये साधनों की आवश्यकता को न केवल आर्य ऋषियों ने ही अनुभव किया है बल्कि संसार के सब विद्वानों ने संस्कारों की महानता के आगे सिर झुकाया है। जो मनुष्य साधन सम्पन्न नहीं है, वह मनुष्य जीवन के उच्च आदर्श की तरफ़ एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। दु.खों से छूट कर शान्त अवस्था को प्राप्त करना, मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य है। किन्तु दुःखों से मनुष्य छूट कैसे सकता है? जब तक कि सुख प्राप्ति के साधनों का उसे ज्ञान न हो। इस लिये कृष्ण भगवान् ने सिद्धि, सुख और मुक्ति को क्रम से वर्णन किया है। किन्तु सिद्धि के लिये साधनों की आवश्यकता है। उन साधनों की वास्तविकता मनुष्य कहां से जाने। इसी बीसवीं शताब्दी के विद्वान् नौजवान अपने दिमाग से निकले हुये विचारों के समर्थन को ही प्रकृति का समर्थन समझते हैं किन्तु इन नवयुवकों पर ही क्या निर्भर है? हर समय, प्रत्येक देश, प्रत्येक सम्प्रदायों के अनुभवशून्य नवयुवक इसी तरह अपनी बुद्धि पर निर्भर करना ही सिद्धि का साधन समझा करते हैं। और जब तक कि संसार के अन्दर सच्ची

शिक्षा का अभाव है,तब तक बराबर इसी तरह समझा करेंगे। अशिक्षित आत्मा साधनों की वास्तविकता को समझ नहीं सकता क्योंकि जब उसे सुख के स्वरूप का ही ज्ञान नहीं है, तो वह सुख के साधनों का सच्चा चित्र अपने लिये कब खींच सकता है। इस लिये मनु भगवान् ने धर्म शास्त्र का उपदेश देते हुये बतलाया है कि मुक्ति के साधनों के जानने का सबसे छोटा साधन मनुष्य का अपना आत्मा है। जीवात्मा की हालत ठीक दर्पण की तरह है। जिस कदर एक शीशा अधिक साफ़ किया जावे उसी कदर सफ़ाई के साथ वस्तुओं का प्रतिबिम्ब उसके अन्दर पड़ता है, और उसी कदर सचाई के साथ उन चीज़ों की बाह्य स्थिति देखने वालों के लिये प्रगट कर सकता है। परन्तु यदि शीशे पर मैल व मिट्टी आदि से उसका रूप धुंधला पड़ जाये तो उसके अन्दर वस्तुओं का प्रतिबिम्ब बिलकुल उलटा पड़ेगा। इसी तरह जो जीवात्मा अशक्त है, बिगड़ते-बिगड़ते अविद्या का बिलकुल शिकार हो जाता है उसके लिये उसका अपना प्रकाश कुछ भी मार्गप्रदर्शक का काम नहीं कर सकता। यदि उसकी शिक्षा ठीक हो तो वह केवल ठीक रास्ते का पता लगाने वाला बन जाता है। आगे चलने के लिये उसे फिर दूसरे पवित्र आत्माओं से शिक्षा लेने की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु दूसरे पवित्र आत्मा भी एक निश्चत सीमा तक मार्ग प्रदर्शन कर सकते हैं। कभी कभी ईर्ष्या या द्वेष में फंसकर सदाचारी

पुरुषों का आचार भी धोखा देने वाला सिद्ध होता है, तब शास्त्र के मार्ग दिखाने की आवश्यकता होती है। जब कि बड़े बड़े आत्मा भी सर्वज्ञ नहीं, इसलिये उनकी लिखी हुई शिक्षायें (जो उनके बनाये शास्त्रों में लिखी हैं) भी पूरा पूरा मार्ग प्रदर्शक का काम नहीं दे सकती। तब पूर्ण शास्त्र की ढूंढ होती है। *और वह परमेश्वर का निर्भ्रान्त और अनन्त ज्ञान* है। हे मनुष्य ! उस अनन्त और निर्भ्रान्त ज्ञान की ढूंढ कर और उसे पाकर उस में वर्णन की हुई बुद्धि के सांचे में अपने जीवन को ढाल। फिर तेरे लिये मुक्ति का मार्ग बिलकुल सुगम हो जायगा। वह पूर्ण शास्त्र कहा है और उस वेद ईश्वरीय ज्ञान की कहां खोज करें ? यह प्रश्न किस मनुष्य के हृदय में कभी न कभी नहीं उठता ? इसका उत्तर देने का भी प्रत्येक मनुष्य ने किसी न किसी समय यत्न किया है। यह प्रश्न जैसे मनु भगवान के समय नवीन था, वैसा अब भी है। जब तक इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं मिलता तब तक मनुष्य का हृदय डावांडोल रहता है। जगत् पिता अपनी कृपा से हम सब के हृदयों को हिला देवे जिससे हम उसके सच्चे ज्ञान की ढूंढ करके अपने जीवन की सिद्धि के लिये सच्चे साधन जान कर सच्चो शान्ति की ओर पग उठायें।

शब्दार्थ—

(यः) जो मनुष्य (शास्त्रविधिम्) शास्त्र की विधि को, आदेश को (उत्सृज्य) छोड़ कर (कामचारतः वर्तते) अपनी इच्छानुकूल आचरण करता है, **(स सिद्धिं न अवाप्नोति)** वह न तो सिद्धि को सफलता को प्राप्त कर सकता है (न सुखम्) न सुख को **(नपरांगतिम्)** और न मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

८

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

गीता १३-२ ॥

उपदेश

संन्यास कैसा कठिन परन्तु उच्च पद है और वैराग्य कैसा शुद्ध मार्ग है। 'न लिङ्ग धार्मकरणम्' गेरवे वस्त्र पहन कर कोई भी मनुष्य सन्यासी नहीं बन सकता। जिस का मन दृढ़ नहीं, जिस ने लगातार अभ्यास से आज्ञापालन के नियम नहीं सीखे और जिसने किसी तरह कवायद करके शस्त्र संचालन नहीं सीखा, वह अगर सैनिक वेश पहन भी ले तो युद्ध भूमि में क्या करेगा? इसी तरह जिस मनुष्य ने निरन्तर साधनों द्वारा अपनी इन्द्रियों और अपने मन को आत्मा का दास नहीं बनाया; जिसने यम नियम के पालन द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि के मुकाबिले के लिये धैर्य, क्षमा आदि के शस्त्र धारण नहीं किये, उसने अगर गेरवे वस्त्र धारण कर भी लिये हैं तो उसे संन्यासी कौन दीर्घदर्शी कहेगा। संन्यास बड़ा ऊँचा पद है। जिस प्रकार ऊँची चोटीपर उसका मन्दिर है इसी प्रकार उसे प्राप्त करना कठिन है। भारतवर्ष में इस समय लाखों

भगवे वस्त्रधारी घूम रहे हैं। एक एक के आसन के पास सैकड़ों हज़ारों स्त्री पुरुष श्रद्धा और अश्रद्धा से बैठे हुये हैं। अगर सचमुच ये सन्यासी होते, यदि इनमें से एक चौथाई भी संन्यास पद के अधिकारी होते तो क्या भारतवर्ष में इसी प्रकार हाहाकार मचा रहता ?

सं+न्यास न केवल यही है कि फल भोग की इच्छा को छोड़ देना परन्तु ऐसे कर्मों को भी न करना जिनका निश्चित परिणाम कुछ न कुछ ज़रूर होने वाला हो। सकाम कर्मों से सर्वथा त्याग एक पुरुष को त्याग की पहली सीढ़ी पर पहुंचा सकता है। परन्तु निष्काम कर्म किस तरह करने चाहियें, यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न है। अनेक कर्म, फल भोग की इच्छा से किये जाते हैं; राजा अश्वमेधयज्ञ प्रजा के पालन के निमित्त करता है, ताकि प्रजा सन्तुष्ट होकर राज्य की उन्नति करे। राज्य प्रबन्ध के लिये राज्य कोष को भर देवे। धार्मिक गृहस्थ पुरुष, पुत्रेष्टि यज्ञ इसलिये करता है कि उसके पुत्र उत्पन्न होकर उसे आनन्दित करें। संसार में यह सब कर्म, फल भोग की इच्छा से किये जाते हैं, उनका त्याग बड़े परिश्रम और आत्मदृढ़ता से हो सकता है। पर कृष्णभगवान् इस को त्याग की अन्तिम सीढ़ी नहीं कहते। उनकी सम्मति मे अब तक जिज्ञासु के लिये और साधन शेष रह जाते हैं। सकाम कर्मको त्याग करके संन्यास का अभिलाषी, निष्काम कर्म आरम्भ करता है और समझता है कि अब मार्ग पूरा कर लिया।

परन्तु नहीं। निष्काम कर्मों का कोई विशेष फल न हो, यह बात नहीं है। सन्ध्या से पुत्र, धन आदि की प्राप्ति चाहे न हो, किन्तु क्या इस में सन्देह है कि प्रीतिपूर्वक नित्य सन्ध्या करने से मनुष्य की विशेष शान्त अवस्था हो जाती है। इसी प्रकार दीन, अपाहिजों की सहायता करने से, निर्बलों का उपकार करने से, चाहे दीन, अपाहिज और निर्बल पुरुष ऐसे परोपकारी का प्रत्युपकार न कर सकें, एक उपकारी पुरुष को विशेष आनन्द धर्म के काम करने से प्राप्त होता है। कृष्ण भगवान् कहते हैं सर्व निष्काम कर्मों से जो साधारण अवस्था भी जीवात्मा की स्वयमेव हो सकती है; यदि मनुष्य उसका ज़रा ध्यान भी बीच में रखकर उस काम को करता है, वह सच्चा त्यागी नहीं है।

यह ऊँचा आदर्श है। आज का कौन मनुष्य इसे पूरा कर सकता है, आजकल लोग यश के लिये परोपकार के कामों में लगे हुये हैं, उनको अनुकरणीय समझा जाता है। मैं मानता हूँ कि जो मनुष्य यश के लिये भी नेक काम करता है वह भी संसार का भला करता है और इसलिये उन मनुष्यों से बहुत अच्छा है, जिनकी रुचि परोपकार की ओर बिलकुल नहीं है। परन्तु क्या इस तरह की प्रसिद्धि का अभिलाषी पुरुष सैंकड़ों और भाइयों को कुमार्ग की तरफ नहीं धकेलता। इसलिये न केवल यही कि मनुष्य निष्काम कर्म करे बल्कि उस निष्काम कर्म के स्वाभाविक परिणाम की भी बिल्कुल

उपेक्षा करदे तब वह संन्यास पद का अधिकारी होता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय क्या है? प्रत्येक आर्य प्रातः काल सन्ध्या करता है, उस समय न केवल उसका यह भाव होना चाहिये कि वह उसके बदले सांसारिक इच्छा न रक्खे किन्तु यह भी वह विचार न करे कि सन्ध्या करने से मुक्ति मिल सकेगी। अग्निहोत्र करते हुये, महापुरुषों की सेवा करते हुये, अतिथियों के आदर सत्कार के समय दीन अपाहिजों को अपनी कमाई में से भाग देते समय,मनुष्य को ज़रा भी यह विचार मन में न लाना चाहिये कि उसकी बाबत आम लोगों की क्या सम्मति होगी, या उसके बदले में परमात्मा, कब उसे अपने समीप बुलायेंगे। यह है कर्तव्य का ख़याल, जो आर्य महान् पुरुषों ने अपना मार्गदर्शक बनाया हुआ था। यदि एक कर्म के आरम्भ करने से पहले लाभ, हानि का बही खाता खोलकर हम बैठ जावें तो संसार के बड़े बड़े दुःख कैसे दूर हो सकेंगे ? यदि इस बही खाते को खोलकर शंकर और दयानन्द काम करते तो क्या वे अपने पुरुषार्थ से इस संसार को पलटा दे जाते? कभी नहीं संभवतः प्रश्न होगा। हमें क्या ? जिसे संन्यासी बनना हो वह यह कठिनाइयां सहे।

आह ! प्यारे भाइयो ! हम कैसी अविद्या के अन्धकार में डूबे हुये हैं। क्या संन्यासी बनने की इच्छा करना या न करना तुम्हारे वश में है ? कदाचित मत भूलो। हर एक जीवात्मा जो मनुष्य शरीर धारण करके जन्म लेता है अपने साथ एक

कर्तव्य लाता है और कुछ नियमों की जञ्जीरों म जकड़ा हुआ आता है...... । गति संसार का नियम है। अगर तुम अपने कर्तव्य पर दृढ़ता से स्थिर नहीं होते और उनके सहारे से ऊपर को नहीं चलते तो गति तुम्हें नीचे की ओर ले चलेगी। तुम नहीं कह सकते कि हम संन्यासी नहीं बनना चाहते। तुम्हारा कर्तव्य है तुम संन्यासी बनो। एक तरफ ऊँचा पर्वत, दूसरी ओर भी ऊँचा पर्वत, बीच मे बारीक किन्तु पक्का तार लग रहा है। तुम बीच के भाग में खड़े हो। अगर हिम्मत से तार पर दृढ़ता से पग रखते हुये आगे न चलोगे, तो आन्धी तुम्हें तुम्हारी जगह पर नहीं ठहरने देगी और जब एक बार पहाड़ के ऊपर की ओर से दृष्टि नीचे डालोगे तो विवशता से तार से जुदा हो जाओगे और फिर अथाह जल में गिरोगे जिसका आर पार तुम्हें नजर नहीं आता। सोचो, समझो! और संन्यास की तरफ पग उठाओ क्योंकि यही तुम्हारा इष्ट है।

शब्दार्थ—

(कवयः) क्रान्तिदर्शी,दीर्घदर्शी लोग (काम्यानां) फल भोग की कामना से किये जाने वाले (कमणां न्यासम्) कर्मों के त्याग को संन्यासं विदुः) संन्यास कहते हैं। और (विचक्षणाः) विचारशील और आचार युक्त विद्वान् (सर्वकर्मफलत्यागम्) सब काम्य कर्मों के फल त्याग को (त्यागं प्राहुः) यथार्थ त्याग कहते हैं।

❀ ❀
❀

६

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञा दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।

गीता अ० १८ श्लोक ५

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ।।

गीता अ० १८ श्लो० ६

उपदेश

कर्मों के नाश से मुक्ति होती है। जब तक कर्म का बन्धन नहीं छूटता तब तक मनुष्य शरीर रूपी कारागार में बन्द रहता है; इसलिये मुक्ति की इच्छा रखने वालों के लिये आवश्यक है कि वह कर्मों का अन्त कर दें। इसका अभिप्राय यह है कि कर्म करें ही नहीं ? नहीं मैंने एकबार एक दृश्य देखा जो कभी भूलता नहीं। एक साधु महात्मा मेरे स्थान के समीप आकर ठहरे। उनका नाम ही जनता ने "निष्काम" रख लिया था। वह नग्न रहते थे। मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी, दर्शनों के लिये उपस्थित हुआ। न बोलते थे, न कुछ करते थे। कुएं पर चौकड़ी मारे बैठे थे। उनके स्थूल शरीर को चार आदमी मल मल कर धो रहे थे। उन्हीं में से एक भक्त ने बदन अंगोछ दिया, उठाया उठ खड़े हुये, हिलाया हिल पड़े परन्तु

दिखावे के सुख में और वास्तव के सुख में भेद है। सुखी के साथ मित्रता का यही परिणाम, संसार में दुःखियों के प्रति वैर भाव समझा जायगा। परन्तु ऋषियों का ऐसा सिद्धान्त नहीं है। वे दुःखी पर दया का आदेश करते हैं। दुःख के कारण जो काम, क्रोध इत्यादि दुर्गुण हैं उनसे जिस कदर, घृणा की जाय उचित है। उन्हें जिस कदर दबाया जाय ठीक है। परन्तु जो मनुष्य हमारा भाई इन बुराईयों में फंसकर दुःखी हो रहा है उससे घृणा करना मनुष्यत्व से गिरना है। मानस तप मनुष्य के पद से बढ़ कर देवता के पद पर पहुंचने का साधन है। इसलिये जिस किसी को दुःखी देखो उस पर दया करो और पूर्ण सहानुभूति से उनके साथ व्यवहार करो। जिस किसी नियतात्मा को देखो उसके आचरण को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो। उसके साथ एकता का प्रकाश करो। क्या परमात्मा को देखकर उससे विरोध तथा घृणा करनी चाहिये? कदाचित् नहीं। यदि परमात्मा ने तुम्हें शक्ति दी है तो उसे बुरे मार्ग से हटा कर, सीधे मार्ग पर लाने का यत्न करो। अपने गिरे हुये भाई को उठने के लिये सहारा दो। यदि इतना सामर्थ्य नहीं है तो उससे कोई संबन्ध न रक्खो। इन साधनों को नियम पूर्वक पालने से मन को आनन्द की प्राप्ति हो सकती है और जब मन में आनन्द है तो इन्द्रियां भी इधर उधर नहीं होसकतीं और न ही शरीर की अवस्था इन्द्रियों को अशक्त करने के योग्य हो सकती है।

इस पहले साधन से मन शान्त होकर दूसरों के लिये आकर्षक बन जायगा। स्वभाव के स्व,भाव के आने से संसार को विजय करना कुछ कठिन नहीं होता। दिलों को खींचने की शक्ति मनुष्य को बड़े बड़े उपकार के लिये तय्यार कर सकती है। इस गुण को अपने अन्दर धारण करने के लिये भी बड़े भारी साधनों की आवश्यकता है। अभ्यास इस का मूल है। तुम्हारा मन चाहे हाथ से जा रहा हो परन्तु यदि आत्मा को दृढ़ करके जाते जाते मन को भी वश में करने का दृढ़ यत्न हो तो मन काबू में आ सकता है। इस अवस्था में पहुँच कर मौन रहना एक विशेष गुण साबित होता है। यही कारण था कि प्राचीन आर्य ऋषियों की ब्रह्मचारियों को दी अन्य आज्ञाओं में एक यह आज्ञा भी थी कि बोले कम और सुने ज्यादा। एक मौन न केवल हजार अवगुणों पर परदा डालता है बल्कि लाखों मन में आये हुये पापों से बचाता है। जब तक मनुष्य किसी विचार को मुंह से प्रगट नहीं करता तब तक उस पर आचरण करना उसके लिये रुकावट से खाली नहीं होता। बुराई को बार बार मुंह से निकालना मनुष्य को लज्जित करता है। न केवल यही, बल्कि एक विद्वान् का कथन ठीक है कि मुख से निकला हुआ वचन, धनुष से छूटे हुए तीर की तरह फिर लौट कर नहीं आता। आह ! पुरानी घटनाओं को स्मरण कर हरेक मनुष्य कितने समयों की बेमौका वार्तालाप से लज्जित होता है और उसके परिणामों को स्मरण कर पश्चात्ताप करता है जब तक

चुप रहने के स्वभाव का अभ्यास नहीं किया जाता तब तक हर समय बोलने की इच्छा बनी रहती है। चुप रहने का बड़ा भारी लाभ यह है कि उसके आचरण से मनुष्य भूल करते करते रुक जाता है। विषय दिन रात इन्द्रियों को अपनी ओर खींचते हैं। उनसे बचने का उपाय सिवाय इसके और कोई नहीं है कि मन को वश मे किया जाय और मन को वश में करने मे मौन बहुत कुछ सहायता देता है, इसी तरह पर जीवन व्यतीत करता हुआ मनुष्य नेकनियत हो जाता है, जिस पर कि भविष्य की भलाई आश्रित है। क्या सन्देह है कि तप के बिना साधारण से साधारण काम जब सिद्ध नहीं होता तो जीवन का सच्चा उद्देश्य कब पूर्ण हो सकता है ? जिस तप के प्रभाव से बड़े बड़े चक्रवर्ती महाराजे, करोड़ों के भाग्य का निर्णय करते हैं, जिस तप के प्रभाव से योगीजन अमृतधाम की ओर चलते हैं, उस के प्रभाव को जिसने नहीं समझा, और उसके नियमों के पालन करने मे जिसने अपना सारा बल नहीं लगाया, वह संसार के भंवर चक्कर से कैसे निकल सकता है ?

शब्दार्थ—

(मनः प्रसादः) मानसिक प्रसन्नता (सौम्यत्वं) स्वभाव में सौम्यता (मौनम्) मौन (आत्मविनिग्रहः) विषयों से अपने मन को रोकना (भाव संशुद्धिः) नेकनीति से परस्पर बरताव (इत्येतत्) यह सब (मानसं तपः) मानसिक तप (उच्यते) कहलाता है।

६

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविध नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विक परिचक्षते॥

गीता १२, १५॥

उपदेश

'शरीर' 'वाणी' और मन तीनों से करने योग्य जो तप हैं उनका सेवन मनुष्य को नित्य करना उचित है। अतः अनुभवी, योगी आदेश देते हैं कि फल भोग की इच्छा को त्याग कर इन तपों का करना जिज्ञासु के आचरण को सात्विक कर्म की सीमा तक पहुंचाता है और सात्विक कर्म करते हुये ही मनुष्य अन्त में बन्धनों से छूट जाता है। इसलिये निष्काम कर्म करना ही मनुष्य का सबसे पहला धर्म है। सकाम कर्म अर्थात् फल की इच्छा से किया हुआ कर्म तो बराबर नाश होता चला जाता है। जो कर्म सिद्धिके इच्छा से किये जाते हैं, उनका अन्त इसकी प्राप्ति के बाद हो जाता है। इनमें से कोई कर्म भी बाकी नहीं रहता जो मनुष्य को इस संसार से आगे ले चले। परन्तु निष्काम कर्म की महिमा बड़ी है। जो कर्म, फल भोग की इच्छा को छोड़कर किये जाते हैं, उनका बल दिन प्रति दिन बढ़ता ही रहता है और अन्ततः इस प्रकार बढ़ जाता है कि बिना इच्छा के ऐसे निष्काम कर्म करने वाले को हरएक प्रकार की सिद्धि प्राप्त हो जाती है कि कृष्ण भगवान् ने स्थान स्थान पर कर्तव्य करने का आदेश देते हुवे अर्जुन को समझाया है कि

अपने किये हुये कर्मों के फल भोगने की अभिलाषा मत करो। सांसारिकराज्य के प्रबन्ध से भी हमें मार्ग दिखलाने के लिये यही शिक्षा मिलती है कि जो राज्य का कर्मचारी किसी विशेष स्वार्थ को लेकर काम करता है उसका वही स्वार्थ पूरा किया जाता है और उससे आगे उसे कुछ नहीं मिलता। परन्तु जो मनुष्य केवल अपने आत्मा को प्रसन्न करने और उसकी आज्ञा को यथार्थ पालन करने को ही अपना उद्देश्य समझता है उससे जहां उसका प्रभु प्रसन्न हो जाता है वहां वेतन वृद्धि, पारितोषक आदि सब काम स्वयं ही पूर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने कर्तव्य, परमात्मा के नियमों के पालन, को मुख्य समझता है वह न स्वयं परमात्मा को ही प्राप्त होता है बल्कि जिन सुखों के प्राप्त करने के लिये सांसारिक पुरुष भटकते फिरते थे उनको भी बगैर मांगे हुए प्राप्त कर लेता है। इस संसार में जो इतनी अशान्ति और व्याकुलता फैल रही है उसका बहुत कुछ कारण यह है कि सर्व साधारण पुरुष हरएक काम को सकाम भाव से करते हैं। एक आदमी सच बोलता है। क्या इस लिये कि सच बोलना उसका कर्तव्य कर्म है? कदाचित् नहीं, बल्कि इसलिये कि सत्य बोलने से उसका कोई अभिप्राय सिद्ध होता है।

यह कथन साधारण बात है "मुझे झूठ बोलने से क्या लाभ"? अर्थात् यदि कोई लाभ हो तो झूठ बोलने में भी कोई संकोच नहीं। शोक यह है कि अविद्या में फंसे हुये हम लोग अपने

हानि लाभ को नहीं समझते। देश के अन्दर दुर्भिक्ष पड़ा हुवा है, हजारों लाखों हमारे भाई भूखों मर रहे हैं। क्या हम इस लिये उनकी सहायता के लिये जाते हैं कि उनकी सहायता करना हमारा कर्तव्य है? यदि यह होता तो हम समाचार पत्रों में तार द्वारा इन खबरों को न छपवाते कि हमने इस कदर आदमी दुर्भिक्ष से पीड़ितों के लिये भेजे। भूकम्प ने कांगड़े को नष्ट कर दिया था। चारों ओर से सहायता की पुकार हुई। जो मनुष्य दुखियों की सहायता के लिये गये, उन्होंने अपनी प्रसिद्धि का नरसिंहा बड़े बल से फूंका। कई समाजों के सदस्यों ने दुखियों को सहायता देने की अवस्था में अपने चित्र खिंचवाये और उन्हें समाचार पत्रों में छापा। मुझे यह मालूम हुआ कि एक रईस धनाढ्य भी दुखियों की सहायता के लिये गये। संभवतः कई समाजों से ज्यादा उन्होंने उन्हीं दिनों धन खर्च किया और स्वयं जाकर दुखियों की धन से सहायता की परन्तु न तो उन्होंने अपना नाम कहीं छपवाया और न ही सरकार के खास धन्यवाद प्राप्त करने का यत्न किया। सरल आत्मा ने जो कुछ किया, अपना कर्तव्य समझ कर किया। मैंने जब इस भद्र पुरुष का वृत्तान्त सुना, रोमांच हो गया; गद् गद् प्रसन्न हुवा। लोग ख्याल करते हैं कि कर्तव्य का पूर्ण करना कठिन है। अनुभव बतलाता है कि इस से बढ़ कर आसान और कोई कार्य नहीं। हां, साधनों में पड़कर हम लोगों ने स्वयमेव अपने आपको अपने कर्तव्य के पालन करने के योग्य नहीं छोड़ा। हम यदि किसी भूखे को रोटी देते

हैं तो अपनी प्रशंसा की इच्छा से। अगर किसी परोपकार के काम में सम्मिलित होते हैं तो आशा यह रखते हैं कि जनता की ओर से हमारी सेवा में अभिनन्दन पत्र पेश किया जाय, हमारी सवारी निकाली जाय और सारे संसार में हमें प्रसिद्ध किया जाय। शोक! हम यह नहीं समझते कि इस प्रकार का दिखावा भी अब ऐसा हो गया है कि अब इसका आम जनता की दृष्टियों में कुछ मूल्य नहीं रहा। और देखिये! ऐसे सकाम भाव से किये कामों में दुःख किस कदर होता है। फल की ओर आंखों का लगा रहना क्या कुछ कम कष्ट है? जिन्हें फल की अभिलाषा नहीं, वे हर समय प्रसन्न रहते हैं। काम करते हैं, उनकी चिन्ता दूर हो जाती है। अपने कर्तव्य के पूर्ण करने के बाद उन्हें परिणाम पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा ने हमारे कर्तव्य हमें स्पष्ट बता दिये हैं। सृष्टि में उसके नियमों को ध्यान पूर्वक देखो। तुम्हारे लिये तुम्हारा कर्तव्य स्पष्ट प्रगट हो जाता है। इस कर्तव्य के पूरा करने से बढ़ कर और कोई कर्तव्य न समझो, तब तुम्हें शान्ति मिल सकेगी।

शब्दार्थ—

(**अफलाकांक्षिभिः नरैः**) निष्काम भाव से, बिना फल की इच्छा के, जो मनुष्य (**त्रिविधं तत् तपः**) पहले वर्णन किये गये शारीरिक, वाङ्मय और मानसिक तप को (**परया श्रद्धया**) परम श्रद्धा के साथ (**तप्तम्**) सेवन करते हैं (**युक्तैः**) आचरण शील विद्वान् (**सात्विकम् परिचक्षते**) उस तप को सात्विक तप कहते हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य, वर्तते कामचारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ॥
गीता १६. २३.

उपदेश

जन्म दिन से ही बालक के लिये साधनों की आवश्यकता को न केवल आर्य ऋषियों ने ही अनुभव किया है बल्कि संसार के सब विद्वानों ने संस्कारों की महानता के आगे सिर झुकाया है। जो मनुष्य साधन सम्पन्न नहीं है, वह मनुष्य जीवन के उच्च आदर्श की तरफ़ एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। दुःखों से छूट कर शान्त अवस्था को प्राप्त करना, मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य है। किन्तु दुःखों से मनुष्य छूट कैसे सकता है ? जब तक कि सुख प्राप्ति के साधनों का उसे ज्ञान न हो। इस लिये कृष्ण भगवान् ने सिद्धि, सुख और मुक्ति को क्रम से वर्णन किया है। किन्तु सिद्धि के लिये साधनों की आवश्यकता है। उन साधनों की वास्तविकता मनुष्य कहां से जाने। इसी बीसवीं शताब्दी के विद्वान् नौजवान अपने दिमाग से निकले हुये विचारों के समर्थन को ही प्रकृति का समर्थन समझते हैं किन्तु इन नवयुवकों पर ही क्या निर्भर है ? हर समय, प्रत्येक देश, प्रत्येक सम्प्रदायों के अनुभवशून्य नवयुवक इसी तरह अपनी बुद्धि पर निर्भर करना ही सिद्धि का साधन समझा करते हैं। और जब तक कि संसार के अन्दर सच्चो

शिक्षा का अभाव है, तब तक बराबर इसी तरह समझा करेंगे। अशिक्षित आत्मा साधनों की वास्तविकता को समझ नहीं सकता क्योंकि जब उसे सुख के स्वरूप का ही ज्ञान नहीं है, तो वह सुख के साधनों का सच्चा चित्र अपने लिये कब खींच सकता है। इस लिये मनु भगवान् ने धर्म शास्त्र का उपदेश देते हुये बतलाया है कि मुक्ति के साधनों के जानने का सबसे छोटा साधन मनुष्य का अपना आत्मा है। जीवात्मा की हालत ठीक दर्पण की तरह है। जिस कदर एक शीशा अधिक साफ़ किया जावे उसी कदर सफ़ाई के साथ वस्तुओं का प्रतिबिम्ब उसके अन्दर पड़ता है, और उसी कदर सचाई के साथ उन चीज़ों की बाह्य स्थिति देखने वालों के लिये प्रगट कर सकता है। परन्तु यदि शीशे पर मैल व मिट्टी आदि से उसका रूप धुंधला पड़ जाये तो उसके अन्दर वस्तुओं का प्रतिबिम्ब बिलकुल उलटा पड़ेगा। इसी तरह जो जीवात्मा अशक्त है, बिगड़ते-बिगड़ते अविद्या का बिलकुल शिकार हो जाता है उसके लिये उसका अपना प्रकाश कुछ भी मार्गप्रदर्शक का काम नहीं कर सकता। यदि उसकी शिक्षा ठीक हो तो वह केवल ठीक रास्ते का पता लगाने वाला बन जाता है। आगे चलने के लिये उसे फिर दूसरे पवित्र आत्माओं से शिक्षा लेने की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु दूसरे पवित्र आत्मा भी एक निश्चित सीमा तक मार्ग प्रदर्शन कर सकते हैं। कभी कभी ईर्ष्या या द्वेष में फंसकर सदाचारी

पुरुषों का आचार भी धोखा देने वाला सिद्ध होता है, तब शास्त्र के मार्ग दिखाने की आवश्यकता होती है। जब कि बड़े बड़े आत्मा भी सर्वज्ञ नहीं, इसलिये उनकी लिखी हुई शिक्षायें (जो उनके बनाये शास्त्रों में लिखी हैं) भी पूरा पूरा मार्ग प्रदर्शक का काम नहीं दे सकती। तब पूर्ण शास्त्र की ढूंढ होती है। और वह परमेश्वर का निर्भ्रान्त और अनन्त ज्ञान है। हे मनुष्य! उस अनन्त और निर्भ्रान्त ज्ञान की ढूंढ कर और उसे पाकर उस में वर्णन की हुई बुद्धि के सांचे में अपने जीवन को ढाल। फिर तेरे लिये मुक्ति का मार्ग बिलकुल सुगम हो जायगा। वह पूर्ण शास्त्र कहां है और उस वेद ईश्वरीय ज्ञान की कहां खोज करें? यह प्रश्न किस मनुष्य के हृदय में कभी न कभी नहीं उठता? इसका उत्तर देने का भी प्रत्येक मनुष्य ने किसी न किसी समय यत्न किया है। यह प्रश्न जैसे मनु भगवान के समय नवीन था, वैसा अब भी है। जब तक इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं मिलता तब तक मनुष्य का हृदय डावांडोल रहता है। जगत् पिता अपनी कृपा से हम सब के हृदयों को हिला देवे जिससे हम उसके सच्चे ज्ञान की ढूंढ करके अपने जीवन की सिद्धि के लिये सच्चे साधन जान कर सच्ची शान्ति की ओर पग उठायें।

शब्दार्थ—

(यः) जो मनुष्य (शास्त्रविधिम्) शास्त्र की विधि को, आदेश को (उत्सृज्य) छोड़ कर (कामचारतः वर्तते) अपनी इच्छानुकूल आचरण करता है, (**स सिद्धिं न अवाप्नोति**) वह न तो सिद्धि को सफलता को प्राप्त कर सकता है (**न सुखम्**) न सुख को (**नपरांगतिम्**) और न मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

८

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

गीता १३-२ ॥

उपदेश

संन्यास कैसा कठिन परन्तु उच्च पद है और वैराग्य कैसा शुद्ध मार्ग है। 'न लिङ्ग धार्मकारणम्' गेरवे वस्त्र पहन कर कोई भी मनुष्य सन्यासी नहीं बन सकता। जिस का मन दृढ़ नहीं, जिस ने लगातार अभ्यास से आज्ञापालन के नियम नहीं सीखे और जिसने किसी तरह कवायद करके शस्त्र संचालन नहीं सीखा, वह अगर सैनिक वेश पहन भी ले तो युद्ध भूमि में क्या करेगा? इसी तरह जिस मनुष्य ने निरन्तर साधनों द्वारा अपनी इन्द्रियों और अपने मन को आत्मा का दास नहीं बनाया; जिसने यम नियम के पालन द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि के मुकाबिले के लिये धैर्य, क्षमा आदि के शस्त्र धारण नहीं किये, उसने अगर गेरवे वस्त्र धारण कर भी लिये हैं तो उसे संन्यासी कौन दीर्घदर्शी कहेगा। संन्यास बड़ा ऊँचा पद है। जिस प्रकार ऊँची चोटीपर उसका मन्दिर है इसी प्रकार उसे प्राप्त करना कठिन है। भारतवर्ष में इस समय लाखों

भगवे वस्त्रधारी घूम रहे हैं। एक एक के आसन के पास सैंकड़ों हजारों स्त्री पुरुष श्रद्धा और अश्रद्धा से बैठे हुये हैं। अगर सचमुच ये सन्यासी होते, यदि इनमें से एक चौथाई भी संन्यास पद के अधिकारी होते तो क्या भारतवर्ष में इसी प्रकार हाहाकार मचा रहता ?

सं+न्यास न केवल यही है कि फल भोग की इच्छा को छोड़ देना परन्तु ऐसे कर्मों को भी न करना जिनका निश्चित परिणाम कुछ न कुछ जरूर होने वाला हो। सकाम कर्मों से सर्वथा त्याग एक पुरुष को त्याग की पहली सीढ़ी पर पहुंचा सकता है। परन्तु निष्काम कर्म किस तरह करने चाहियें, यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न है। अनेक कर्म, फल भोग की इच्छा से किये जाते हैं; राजा अश्वमेधयज्ञ प्रजा के पालन के निमित्त करता है, ताकि प्रजा सन्तुष्ट होकर राज्य की उन्नति करे। राज्य प्रबन्ध के लिये राज्य कोष को भर देवे। धार्मिक गृहस्थ पुरुष, पुत्रेष्टि यज्ञ इसलिये करता है कि उसके पुत्र उत्पन्न होकर उसे आनन्दित करें। संसार में यह सब कर्म, फल भोग की इच्छा से किये जाते हैं, उनका त्याग बड़े परिश्रम और आत्मदृढ़ता से हो सकता है। पर कृष्णभगवान् इस को त्याग की अन्तिम सीढ़ी नहीं कहते। उनकी सम्मति में अब तक जिज्ञासु के लिये और साधन शेष रह जाते हैं। सकाम कर्मको त्याग करके संन्यास का अभिलाषी, निष्काम कर्म आरम्भ करता है और समझता है कि अब मार्ग पूरा कर लिया।

परन्तु नहीं। निष्काम कर्मों का कोई विशेष फल न हो, यह बात नहीं है। सन्ध्या से पुत्र, धन आदि की प्राप्ति चाहे न हो, किन्तु क्या इस में सन्देह है कि प्रीतिपूर्वक नित्य सन्ध्या करने से मनुष्य की विशेष शान्त अवस्था हो जाती है। इसी प्रकार दीन, अपाहिजों की सहायता करने से, निर्बलों का उपकार करने से, चाहे दीन, अपाहिज और निर्बल पुरुष ऐसे परोपकारी का प्रत्युपकार न कर सकें, एक उपकारी पुरुष को विशेष आनन्द धर्म के काम करने से प्राप्त होता है। कृष्ण भगवान् कहते हैं सर्व निष्काम कर्मों से जो साधारण अवस्था भी जीवात्मा की स्वयमेव हो सकती है; यदि मनुष्य उसका ज़रा ध्यान भी बीच में रखकर उस काम को करता है, वह सच्चा त्यागी नहीं है।

यह ऊँचा आदर्श है। आज का कौन मनुष्य इसे पूरा कर सकता है, आजकल लोग यश के लिये परोपकार के कामों में लगे हुये हैं, उनको अनुकरणीय समझा जाता है। मैं मानता हूँ कि जो मनुष्य यश के लिये भी नेक काम करता है वह भी संसार का भला करता है और इसलिये उन मनुष्यों से बहुत अच्छा है, जिनकी रुचि परोपकार की ओर बिलकुल नहीं है। परन्तु क्या इस तरह की प्रसिद्धि का अभिलाषी पुरुष सैंकड़ों और भाइयों को कुमार्ग की तरफ नहीं धकेलता। इसलिये न केवल यही कि मनुष्य निष्काम कर्म करे बल्कि उस निष्काम कर्म के स्वाभाविक परिणाम की भी बिल्कुल

उपेक्षा करदे तब वह संन्यास पद का अधिकारी होता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय क्या है? प्रत्येक आर्य प्रातः काल सन्ध्या करता है, उस समय न केवल उसका यह भाव होना चाहिये कि वह उसके बदले सांसारिक इच्छा न रक्खे किन्तु यह भी वह विचार न करे कि सन्ध्या करने से मुक्ति मिल सकेगी। अग्निहोत्र करते हुये, महापुरुषों की सेवा करते हुये, अतिथियों के आदर सत्कार के समय दीन अपाहिजों को अपनी कमाई में से भाग देते समय, मनुष्य को ज़रा भी यह विचार मन में न लाना चाहिये कि उसकी बाबत आम लोगों की क्या सम्मति होगी, या उसके बदले में परमात्मा, कब उसे अपने समीप बुलायेंगे। यह है कर्तव्य का ख्याल, जो आर्य महान् पुरुषों ने अपना मार्गदर्शक बनाया हुआ था। यदि एक कर्म के आरम्भ करने से पहले लाभ, हानि का बही खाता खोलकर हम बैठ जावें तो संसार के बड़े बड़े दुःख कैसे दूर हो सकेंगे ? यदि इस बही खाते को खोलकर शंकर और दयानन्द काम करते तो क्या वे अपने पुरुषार्थ से इस संसार को पलटा दे जाते? कभी नहीं संभवतः प्रश्न होगा। हमें क्या ? जिसे संन्यासी बनना हो वह यह कठिनाइयां सहे।

आह ! प्यारे भाइयो ! हम कैसी अविद्या के अन्धकार में डूबे हुये हैं। क्या संन्यासी बनने की इच्छा करना या न करना तुम्हारे वश में है ? कदाचित मत भूलो। हर एक जीवात्मा जो मनुष्य शरीर धारण करके जन्म लेता है अपने साथ एक

कर्तव्य लाता है और कुछ नियमों की जञ्जीरों में जकड़ा हुआ आता है······। गति संसार का नियम है। अगर तुम अपने कर्तव्य पर दृढ़ता से स्थिर नहीं होते और उनके सहारे से ऊपर को नहीं चलते तो गति तुम्हें नीचे की ओर ले चलेगी। तुम नहीं कह सकते कि हम संन्यासी नहीं बनना चाहते। तुम्हारा कर्तव्य है तुम संन्यासी बनो। एक तरफ ऊँचा पर्वत, दूसरी ओर भी ऊँचा पर्वत, बीच में बारीक किन्तु पक्का तार लग रहा है। तुम बीच के भाग में खड़े हो। अगर हिम्मत से तार पर दृढ़ता से पग रखते हुये आगे न चलोगे, तो आन्धी तुम्हें तुम्हारी जगह पर नहीं ठहरने देगी और जब एक बार पहाड़ के ऊपर की ओर से दृष्टि नीचे डालोगे तो विवशता से तार से जुदा हो जाओगे और फिर अथाह जल में गिरोगे जिसका आर पार तुम्हें नजर नहीं आता। सोचो, समझो! और संन्यास की तरफ पग उठाओ क्योंकि यही तुम्हारा इष्ट है।

शब्दार्थ—

(कवयः) क्रान्तिदर्शी,दीर्घदर्शी लोग (काम्यानां) फल भोग की कामना से किये जाने वाले (कर्मणां न्यासम्) कर्मों के त्याग को संन्यासं विदुः) संन्यास कहते हैं। और (विचक्षणाः) विचारशील और आचार युक्त विद्वान् (सर्वकर्मफलत्यागम्) सब काम्य कर्मों के फल त्याग को (त्यागं प्राहुः) यथार्थ त्याग कहते हैं।

६

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञा दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।

गीता अ० १८ श्लोक ५

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ।।

गीता अ० १८ श्लो० ६

उपदेश

कर्मों के नाश से मुक्ति होती है। जब तक कर्म का बन्धन नहीं छूटता तब तक मनुष्य शरीर रूपी कारागार में बन्द रहता है; इसलिये मुक्ति की इच्छा रखने वालों के लिये आवश्यक है कि वह कर्मों का अन्त कर दें। इसका अभिप्राय यह है कि कर्म करें ही नहीं ? नहीं मैंने एकबार एक दृश्य देखा जो कभी भूलता नहीं। एक साधु महात्मा मेरे स्थान के समीप आकर ठहरे। उनका नाम ही जनता ने "निष्काम" रख लिया था। वह नग्न रहते थे। मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी, दर्शनों के लिये उपस्थित हुआ। न बोलते थे, न कुछ करते थे। कुएं पर चौकड़ी मारे बैठे थे। उनके स्थूल शरीर को चार आदमी मल मल कर धो रहे थे। उन्हीं में से एक भक्त ने बदन अंगोछ दिया, उठाया उठ खड़े हुये, हिलाया हिल पड़े परन्तु

गद्दी पर पहुंचते ही बठ गये। मैं भी प्रणाम कर के बैठ गया। गले में सुगन्धित फूलों की माला डाली गयी। साधु जी ने मौन साधन किया हुआ था और भक्त जन प्रशंसा के पुल बांध रहे थे। इतने में एक देवी आई और उसने मुंह के पास कलाकन्द (मिठाई) रक्खी। महात्मा जी ने मुंह खोल दिया। जब कलाकन्द मुंह के अन्दर गया तो खाने लग गये। तब मुझसे न रहा गया और मैंने कहा "महात्मा जी! अगर आप मुंह न खोलते और मिठाई को दांतों से न चबाते, तब मैं इन मनुष्यों के कहने पर आप को 'निष्काम' समझता"। महात्मा जी की आंखें सुरख लाल हो गई और मौन व्रत टूट गया। मैं बाहर चला आया। लोगों ने आकर मुझ से कहा, यह साधु सदाचारी तो है? मैंने जवाब दिया कि यदि सदाचारी है तो यह इसका कर्तव्य है। परन्तु जो मनुष्य क्रोध को वश में नहीं कर सकता, उससे हमें क्या लाभ हो सकता है? जैसा कि कहा गया था, सम्भव है कि वह साधु सदाचारी हो। परन्तु फिर वह क्यों क्रोध में आया? इसलिये कि उसने निष्काम' शब्द के अर्थ नहीं समझे। कर्म कौन मनुष्य छोड़ सकता है? क्या आंख से देखना बन्द हो सकता है? कान को सुनने से रोका जा सकता है? कोई भी इन्द्रिय अपने काम को नहीं छोड़ती। तब क्या करना चाहिये?

कृष्ण भगवान् कहते हैं—यज्ञ, दान और तप इन कर्मों का कभी भी त्याग न करना चाहिये। छोड़ने योग्य बुरे काम

हैं, न कि अच्छे। वैदिक कर्म को न छाड़े परन्तु इन कर्मों को नियमपूर्वक करना मनुष्य का परम धर्म है। यह क्यों ? इस लिये कि मनुष्य एक स्थान पर ठहर नहीं सकता। गति······ जगत् का नियम है। सिवाय परमात्मा के और किसी सांसारिक पदार्थ की स्थिति नहीं, फिर निर्बल मनुष्य कब एक स्थान पर ठहर सकता है ? मुक्ति बड़ी दूर है। आत्मिक हिमालय की चोटी पर उसकी झलक सी दीखती है। मुक्ति के अभिलाषियों को ऊपर चलना है। मार्ग बड़ा विकट है, चढ़ाई सीधी है। अगर दृढ़ता के साथ श्वास को ठीक कर, बदन को ठीक अवस्था में रखकर, ऊपर को नहीं चलते तो एक दम नीचे गिर पड़ोगे। नीचे की दूरी से सिर में चक्कर आ जाये और न जाने किस प्रकार नीचे आन गिरें। इसलिये कृष्णदेव कहते हैं कि आत्मा की शुद्धि और दृढ़ता के लिये, यज्ञ, दान और तप का अभ्यास नित्य करे। बिना तप के मनुष्य दान के योग्य नहीं होता। जिस के पास स्वयं धन नहीं, वह दूसरों को क्या देगा? जिसके अपने पास विद्यारूपी रत्न नहीं, वह दूसरों को विद्या दान कैसे कर सकता है ? इसलिये तप का अभ्यास सबसे पहले करना चाहिये, उसके साथ दान का अभ्यास स्वयमेव होगा। जिसके पास ऐश्वर्य है, उसका चित्त देने की तरफ प्रवृत्त होगा। जिसके शरीर में बल नहीं, वह दीनों की रक्षा क्या करेगा ? जब, तप और दान दोनों इकट्ठे हो जाते हैं तब यज्ञ का प्रकाश होता है।

क्या कभी इस तरह कर्मों का अन्त हो सकेगा ? यदि

कर्मों का अन्त न होगा तो क्या कभी भी हम मुक्ति की चोटी पर पहुंच सकेंगे। इसका उत्तर फिर ईश्वरीय विज्ञान की सहायता से भगवान कृष्ण देते हैं—कर्म बराबर करो क्योंकि इन्द्रियां बिना कर्मों के रह नहीं सकतीं किन्तु उन कर्मों के फल भोग की इच्छा को छोड़ दो। बस यही निष्काम कर्म कहलाते हैं। कर्म करते हुये ही पूरी आयु भोगने की इच्छा करो परन्तु उन कर्मों के फल से कुछ भी सम्बन्ध न रक्खो। इस तरह तुम उन कर्मों के बन्धन से छूट सकते हो। कर्म अपने आप मे कुछ भी नहीं कर सकते, उन में फंसावट ही सब कुछ करती है। मनुष्यों को यदि पापरूपी नरक में गिराती है तो कर्मों की फंसावट! इसलिये ऐ! मेरे प्यारे भाइयो! संसार के गृहस्थरूपी युद्ध से मत भागो। जिसने इन्द्रियों को वश में किया है, उसका घर भी तपोवन है किन्तु जो वन में जाकर भी इन्द्रियों का दास ही रहा, वह घोर संग्राम में फंसा हुआ है। ब्राह्मण निष्काम कर्म करने से ही जगद्गुरु कहलाते थे अन्यथा उनके शरीर भी दूसरे मनुष्यों की तरह के ही थे। इस समय निष्काम भाव से काम करने की बड़ी भारी आवश्यकता है। मैं भूल गया। इस क्या; हर समय ही निष्काम भाव से काम करने की आवश्यकता है। तुम यश के भूखे हो! निष्काम भाव से काम करो, यश तुम्हारे पीछे मारा मारा फिरेगा! तुम्हें आश्चर्य होगा कि यश का निष्काम भाव से क्या सम्बन्ध! परन्तु आश्चर्य की कोई

बात नहीं है। कवि ने सच कहा है "बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख" तुम अपना उद्देश्य उच्च बनाओ, उसके लिये तप, दान और यज्ञ के अभ्यास की आवश्यकता है। इन तीनों प्रकार के कर्मों से शरीर,मन और आत्मा को शुद्ध करो। फिर निडर होकर संसार में विचरो। जब फल भोग की कामना न रही तो बजाय इसके कि विषय इन्द्रियों को अपनी तरफ खींच सकें,मन इन्द्रियों को अन्दर की तरफ खींच सकेगा और बजाय इसके कि मन आत्मा को बाहिर्मुख कर सके,आत्मा अपने अन्दर मन और इन्द्रियों को खींच कर उनका राजा बना हुआ, परम धाम की तरफ चल सकेगा। उस परम धाम का मालिक परम आत्मा है। उसी का सारा ऐश्वर्य है। उसको पाकर फिर किसी वस्तु की इच्छा बाकी नहीं रहती। परमात्मा पूर्ण कृपा करें कि हम सब योगीराज कृष्ण के गम्भीर नाद को सुनें और उसके अनुकूल चलें।

शब्दार्थ—

(**यज्ञदानतप**) मनुष्य के लिये यज्ञ, दान और तप (कर्म) यह तीन कर्तव्य हैं। (**न त्याज्यम्**) यह कर्तव्य मनुष्य कभी न छोड़े, (**कर्तव्यमेवतत्**) इन्हें अवश्य करता ही रहे क्योंकि (**यज्ञो दानं तपश्चैव**) यज्ञ, दान और तप यह तीनों (**मनीषिणाम्**) बुद्धिमान् मनुष्यों के (**पावनानि**) हृदयों को शुद्ध पवित्र करने वाले हैं। अतएव (**पार्थ!**) हे अर्जुन! **एतान्यपि तु कर्माणि**) यह सब कर्म (**संगं फलानि च त्यक्त्वा**) आसक्ति तथा फल त्याग की भावना से (**कर्तव्यानि**) करने चाहिये, यह (**उत्तमं मतं निश्चितम्**) मेरा उत्तम तथा निश्चित मत है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ।।

१८ अ० ९ श्लोक ॥

उपदेश

सारे ससार मे त्याग की धूम मच रही है, किन्तु त्याग के यथार्थ अभिप्राय को कोई विरला ही समझता है। किस मनुष्य को किसी न किसी समय दुःख पीड़ित नहीं करता। ऐसे समय में ही त्याग का ध्यान प्रायः मनुष्यों को आता है। झूठे मोह में फंस कर पुत्र की देह को ही आत्मा समझता हुआ पिता कैसा प्रसन्न होता है। उसकी आंखों से उस समय यह संसार एक सदैव की खुशी से कम मूल्य नहीं रखता। संसार से उसे बड़ा भारी प्रेम होजाता है परन्तु शरीर अनित्य है। सदैव जन्म कायम नहीं रह सकता। एकदम बीमारी का जोर होता है और प्रिय पुत्र शरीर त्याग कर चल देता है। अब वही संसार उजाड़, बियाबान, सुनसान जंगल की भान्ति भयानक दिखाई देता है। तब वैराग्य उत्पन्न होता है। न स्नान का ध्यान, न सन्ध्या की खबर, न शरीर की सुध और न आत्मा का ख्याल। मन चाहता है कि कपड़े फाड़ कर निकल चलें। किसी कर्तव्य का भी ध्यान नहीं। यदि कोई दीन सहायता की इच्छा से आता है तो उसकी जान निकाल लेने की इच्छा होती है। जब मेरा पुत्र नहीं तो दया का मतलब क्या? दान की इच्छा क्या! ऐसे समय में मनुष्य, प्राण तक तज देने को तय्यार हो जाता

है। ऐसे त्याग को कृष्णभगवान्, तामसी त्याग कहते हैं।

अविद्या में फंसा हुआ, बुद्धि विहीन मनुष्य, जब अपने कर्तव्य को भूल जाता है, उस समय वह फंसावट को त्याग समझता है। मोह के वशीभूत हुआ अपने आपको त्यागी समझे, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है! फिर त्याग क्या है? एक दूसरे दृश्य की तरफ दृष्टि जाती है। प्रातः काल का समय है जानवर बोल रहे हैं। धार्मिक पुरुष शौच स्नानादि से निवृत्त होकर, सन्ध्यावन्दन से निवृत्त हो चुके हैं। अग्निहोत्र भी कर चुके। एक आर्यपुरुष अपने उपासना गृह से उठकर, बाहर सैर के लिये चला है। मार्ग में मित्र का मकान है। ख्याल आता है, सैर के लिये इसे भी साथ ले चलो मकान के अन्दर जाता है, वह मित्र को देखकर हैरान हो जाता है। अभी तक चारपाई पर ही लेटा हुआ है। उसको हिलाकर सचेत करता है। क्यों अब तक सोते ही हो? नहीं, जागा तो चार बजे ही था परन्तु शरीर को कुछ कष्ट है, स्नान नहीं कर सकता। सन्ध्या तो कर चुके होगे? सन्ध्या! सन्ध्या कैसे करता, रोगी हूं। क्या! सन्ध्या का त्याग बीमारी के लिये! सन्ध्या अपने सच्चे पिता से मेल करने का नाम है। क्या शरीर के दुःख के कारण पिता के दर्शन त्याग दोगे? शरीर को जल से नहीं धो सकते, न सही, हाथ मुंह तो गरम पानी से धो सकते हो। अगर बैठ नहीं सकते, इस भांति दुर्बल हो गये हो तो क्या लेटकर पिता का ध्यान नहीं कर सकते? क्या

निर्बल बच्चा, लेटा हुआ माता से प्यार नहीं कर सकता। अह! शारीरिक परिश्रम के भय से अपना कर्तव्य जानते हुए भी पालन न करना राज त्याग कहलाता है।

एक और दृश्य देखिये। एक दीन, रात को पुकार रहा है। अत्याचारी उस पर अत्याचार कर रहा है। अगर तुम्हें परमेश्वर ने शरीर दिया है, अगर तुम्हें उसने बुद्धि दी है और मन दिया है तो क्या तुम्हारा कर्तव्य नहीं कि दीन की उसी समय सहायता के लिये जाओ। परन्तु शारीरिक आलस्य उठने नहीं देता। क्या यह सच्चा त्याग है? दिन रात, हमारे कर्तव्य हमें बुला रहे हैं और हम गहरी नींद में मस्त हैं। यह त्याग नहीं, यह तो पहले दर्जे की फसावट है। फिर त्याग क्या है? यदि सब कुछ छोड़ देना, त्याग नहीं; यदि शरीर के सारे धर्मों को भूल जाना, त्याग नहीं, तो फिर त्याग किसे कहते हैं? अपने दैनिक कर्मों से पूछो। सीधा उत्तर मिलेगा। तुम दीनों की रक्षा क्यों करते हो? इसलिये कि तुम्हारा यश सारे संसार में फैले, इसलिये नहीं कि उसकी रक्षा तुम्हारा कर्तव्य है। तुम सन्ध्या इसलिये करते हो कि लोग तुम्हें महात्मा समझें, इसलिये नहीं कि पिता का सत्संग तुम्हारा कर्तव्य है। तुमने कर्मों के त्याग को त्याग समझ रखा है। परन्तु कर्मों का त्याग उलटा कर्मों की जड़ काटता है। जब तुम्हारी कोई सम्पत्ति ही नहीं तो उसका त्याग कैसा? फिर सात्विक त्याग क्या है? तुम वैदिक कर्मों के करने में तो दिन

रात तत्पर रहो, परन्तु उनके अन्दर फंसो नहीं । तुम उनकी की रक्षा करो किन्तु अनाथों को अपना खिलौना मत बनाओ। तुम गुरुकुल कायम करके उसकी सेवा करो परन्तु गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को अपने व्यसन पूरा करने की नुमाइश न बनाओ। तुम प्रकृति के सौन्दर्य को आंखों से देखो लेकिन उन आंखों को उस प्राकृतिक सौन्दर्य का दास न बनाओ। कर्म करो परन्तु उसमें फंसो नहीं। न केवल यह किन्तु उस किये हुये कर्म की अभिलाषा मत करो। बस, यही त्याग है। तुमने कर्म किये, तुम्हारी सम्पत्ति बन गई। उन कर्मों के तुम अधिकारी बन गये किन्तु तुमने फल का ध्यान भी न किया, यही सच्चा सात्विक त्याग है।

प्यारे भाइयो! यह है आदर्श त्याग का। इस आदर्श से किस प्रकार हम सब गिरे हुए हैं? वैदिक धर्म के प्यारो! क्या त्याग को इस गिरी हुई दशा से उठाने का हम सब से बढ़ कर किसी ने बीड़ा उठाया था? हमने वैदिक धर्म को ग्रहण करके भी पश्चिमीय विचारों का खोल चढ़ा लिया है। हमने इस आदर्श को यह कह कर टाला कि अगर कोई मनुष्य केवल यश के विचार से कोई अच्छा काम करता है तब भी उसे साहस देना चाहिये। परन्तु हम सब एक सचाई को भूल जाते हैं। जब तक सकाम भाव विद्यमान हैं तब तक गिरने का भय लगातार रहता है। इस भय से बचने के लिए निष्काम भाव से सच्चे त्याग के आदर्श की ओर चलना

चाहिये। जिस मनुष्य ने यश के विचार को छोड़ कर, कर्म से सर्वथा मुंह मोड़ लिया है, वह पापी तो है। वह केवल अपने आत्मा को दुःख सागर में डुबोता है। जो यश को चाहने वाला आज नेक कामों में लग कर हम सब की रुचियों को अपनी ओर खींच रहा है, संभव है वह हमारी भूल से, प्राप्त किये हुये बल के कारण दूसरे सैंकड़ों, हजारों, आत्माओं को भी पाप के गढ़े में धकेलने का हेतु हो। तब हमारा कर्तव्य क्या है? सात्विक त्याग का भाव, अपने अन्दर लाना और अपने उदाहरण से दूसरों को भी इसी मार्ग से चलने के लिए प्रेरित करना। यह माना कि सकामभाव से काम करना पहले पहल, बड़ा सुहावना मालूम होता है, परन्तु जब वैयक्तिक न्यूनता के कारण उस मार्ग में ठोकरें लगती हैं तो मनुष्य न इधर का रहता है न उधर का। इसलिये आज से ही यह अभ्यास आरम्भ करो कि न अविद्या के वश हो कर, न लोभ से, न मोह से, न काम क्रोध और अहंकार के वश में होकर, हम कभी भी अपने कर्तव्य कर्मों का त्याग करें। हम कर्मों को सदैव धर्मानुसार पालन करते हुये, उन में फंसने से बचें और उनके फल भोग की इच्छा को मन से त्याग दें।

शब्दार्थ—

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (सग फल चैव त्यक्त्वा)आसक्ति और फलभोग की इच्छा को छोड़ कर (यत् नियतम्) जो निश्चित और उपयोगी (कार्यम् कर्म) कर्तव्य कर्म (क्रियतेएव) स्थिर तौर पर किया जाता है (सः) वह कर्म (सात्विकः त्यागः) सतोगुण युक्त त्याग (मतः) समझा जाता है।

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तु कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

गीता १८. अ० ११ १२.

उपदेश

कर्मों से कौन भाग सकता है? किसी आश्रम में भी कर्म मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ते। क्या संन्यासी कर्म से पृथक् हो सकता है? भला जब मानसिक व्यवहार ही सारा रुक जावे तो संन्यासी क्या? उसके कर्तव्य क्या? संन्यासी का परम धर्म, निडर होकर पक्षपातसे रहित धर्म का आन्दोलन करके उसका सांसारिक मनुष्यों के हित के लिये प्रचार करना है। परन्तु जिसने वाणी के कर्म को रोक दिया, वह सत्य का प्रचार कैसे कर सकेगा? इसलिये कर्म का त्याग करना असंभव ही है। त्याग किसे कहते हैं! फलों का त्याग ही सच्चा त्याग है। यह सुनकर सांसारिक पुरुष प्रश्न करेंगे कि क्या दीर्घदर्शी

अनुभवी, मनुष्य समय के प्रवाह को नहीं देख सकते ? क्या वे अपने देश की भलाई के कारण को जाने बिना ही और उसके परिणामों का पता लगाये बगैर ही अन्धाधुन्ध काम करेंगे ? यह प्रश्न बड़े आवश्यक हैं किन्तु साथ ही इन में अविद्या का परिणाम है। क्या तुमने कभी देखा है कि जो काम किसी परिणाम से सोचा जाय वही प्राप्त होता है ? कदाचित् नहीं । हां, जब दूसरे प्रकार का अच्छा परिणाम निकल आता है तो काम करने वाले की दूरदर्शिता की प्रशंसा की जाती है। मनुष्य निर्बल है, मनुष्य की सब शक्तियां अल्प हैं. तब कैसे वह जान सकता है कि उसके विशेष काम का क्या परिणाम होगा ? हां ! एक बात तो मूर्ख भी समझ सकता है। यदि उसको उसका कर्तव्य बतला दिया जाय तो परिणाम को बिना सोचे वह अपने कर्तव्य को पूरा कर सकता है। इसलिये कृष्णभगवान कहते हैं कि फल भोग की इच्छा इसलिये नहीं करनी चाहिये कि तुम निश्चय के साथ कह नहीं सकते कि जिस कार्य का तुमने एक विशेष परिणाम सोच रक्खा है, उस का वह निश्चित परिणाम होगा हा ! तुम एक इष्ट कार्य को बड़ी रुचि से करते हो, इस विचार से कि उसका विशेष परिणाम तुम्हारी रुचि के अनुकूल होगा। तुम दूसरे कार्य का जिससे घृणा है बाधित होकर करते हो परन्तु परिणाम तुम्हारा इच्छा के विपरीत निकलता है। एक काम को तुम दोनों भावों से करते हो, परिणाम एक तीसरी प्रकार का निकल आता है।

तुम्हारी इच्छा च हे कुछ ही क्यों न हो परन्तु तुम्हारे कर्मों का फल मिला और उसके पश्चात् कुछ भी स्थिर नहीं रहा। हां ! उन कर्मों के प्रबल संस्कार स्थिर रह जाते हैं जो भयानक रूप बनाये हुये तुम्हें सदैव दुःख से पीड़ित रखते हैं। जिस संन्यासी ने फल को त्याग दिया है वह दिन रात कर्म करता हुआ भी उनके संस्कारों का दास नहीं बनता इसलिये कि वह उनके अन्दर फंसता ही नहीं है। झूठे त्याग ने भारतवर्ष देश को रसातल तक पहुंचा दिया है। ईश्वरीय नियम के विरुद्ध कर्म करते हुए मनुष्य समाज का कोई अंग स्थिर नहीं रह सकता। राज्य का प्रबन्ध करता हुआ राजा जनक क्यों विदेह मुक्त प्रसिद्ध हुआ ? इसलिये कि एक तरफ जहां आग से एक जांघ के जलने का उसे शोक न था वहां दूसरी ओर उत्तम से उत्तम भोगों का सुख उसे विचलित न होने देता था।

इसलिये मेरे प्रिय पाठकगण ! इन कारणों से फल भोग की इच्छा को छोड़ कर सब काम करो। मैं जानता हू यह कैसा कठिन मार्ग है ! इस मार्ग में चलते हुए मैंने अनेक ठोकरें खाई हैं। संभवतः आप लोगों ने मुझसे अधिक ठोकरें न खायी होंगी। मेरा अनुभव मुझे बतलाता है कि यह मार्ग कठिन है। इसके अतिरिक्त जिधर जाओगे भटकते फिरोगे। आओ ? इसलिये एक दूसरे को बल देते हुये हम सब इसी निष्काम मार्ग पर चलने का यत्न करें। हम सब निर्बल हैं, दीन हैं, परन्तु जिस परमात्मा ने अपनी अपार

दया से अपने ज्ञान के भंडार को हमारे लिये खोल दिया है, वह सर्व शक्तिमान् है। हमारा पिता सर्वज्ञ और सर्वोपरि विराजमान है। अगर हम उसका सहारा ढूंढे, यदि शुद्ध मन से उसके दरबार में याचक बनकर जावें तो हम में भी बल आ सकता है। परमात्मा ने स्वयं हमें प्रार्थना की विधि बतलायी है। उन्होंने स्पष्ट आज्ञा दी है कि मुझ बल भंडार से बल मांगो। मन, वाणी और कर्म को शुद्ध करके तीनों के द्वारा प्रार्थना करो; तुम्हारी प्रार्थना निष्फल न होगी। हमारे अविश्वासी मन भटकते फिरते हैं ? पिता हमारे रोम रोम में रम रहे हैं। माता की गोद में बैठे हुये हम इस प्रकार अविश्वासी हों, हम से बढ़कर अधम कौन हो सकता है ? आज से ही प्रण करो कि हम शुद्ध भाव से प्रातः और सायं पिता की शरण में शुद्ध हृदय लेकर उपस्थित हों। सारे अन्दर के भावों की भेंट उसके आगे चढ़ायें। हम और क्या भेंट ले जा सकते हैं। कौन सी सांसारिक वस्तु है जिस पर हमारा अधिकार है। अगर सारा ऐश्वर्य परम ईश्वर का है तो हमारे पास अपने आत्मा के अतिरिक्त और क्या है ? इसलिये सिवाय इसके कि उसके सर्वभावों को ईश्वर की भेंट करें और हम क्या कर सकते हैं।

हे शान्ति निकेतन ! हमारे अशान्त हृदय, ईर्ष्या और द्वेष से दग्ध हो रहे हैं। फल भोग की इच्छा ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा। आप कृपा करो, दया करो, इस अशान्त हृदय के अन्दर शान्त अमृत जल की वर्षा करो ताकि अपने हित अहित को

समझ कर हम सब आपकी शरण में आवें और अपने कर्तव्य को ज्ञानपूर्वक पालन करते हुये आपके अनन्त धाम के अधिकारी बन सकें।

शब्दार्थ—

(देहभृता) कोई भी शरीरधारी (अशेषतः कर्माणि) सम्पूर्ण कर्मों को (त्युक्तम्) छोड़ने के लिये (नहि शक्यम्) समर्थ नहीं है। इसलिये (यस्तु) जो भी व्यक्ति (कर्मफलत्यागी) कर्मों के फलों को त्याग करने वाला है यथार्थ में (सः) वह व्यक्ति ही (त्यागीत्यभिधीयते) त्यागी कहलाता है।

(अत्यागिनाम्) त्याग भाव से न काम करने वाले लोगों को (प्रेत्य) मृत्यु के बाद दूसरे जन्म में (अनिष्टं इष्टं, मिश्रं च) बुरा, भला या मिलवा यह (कर्मणः) कर्मों का (त्रिविधं फलम्) तीन प्रकार का (भवति) भोगना पड़ता है। (सन्यासिनां तु) किन्तु सन्यासियों को (क्वचित्) किसी प्रकार का भी कर्मफल (न भवति) नहीं भोगना पड़ता।

१२

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्व समाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥

गीता १३ । १० ।

उपदेश

सत्य से परे कोई धर्म नहीं। धर्म की नींव ही सत्य है, इसलिये धर्म के स्रोत परमात्मा को सत्यस्वरूप कहा है। सच्चा त्यागी बनने के लिये पहले सर्व सत्गुणों को ही धारण करना चाहिये। शरीर को स्वस्थ रखने के लिये भोजन और जल की आवश्यकता होती है इसलिये ऋषि महात्मा उपदेश करते हैं कि सत्यलोक की इच्छा रखने वालों को सात्विक भोजन करना चाहिये। मांस आदि पदार्थों का इसलिये निषेध है कि वे तामस और राक्षस भोजन हैं। पीने का जल भी सात्विक गुण युक्त होना चाहिये इसीलिये संन्यासी को जल छान कर पीने की आज्ञा है। अन्न, फल और जल सब सात्विक, स्वच्छ, पवित्र होना चाहिये, तब बुद्धि भी शुद्ध होती है। शरीर का मनुष्य की सारी क्रियाओं के साथ विशेष सम्बन्ध है इसलिये शारीरिक शुद्धि से बुद्धि के अन्दर भी सात्विक भाव पैदा है और एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। बुद्धि शरीर को शुद्ध करती है और शरीर बुद्धि को शुद्ध करता है। यह शुद्ध हुई बुद्धि सत्य और असत्य का निर्णय करने के योग्य हो जाती है। सच्चे धर्म को धारण करने की शक्ति, ऐसी शुद्ध बुद्धि के अन्दर हो

सकती है। तब मनुष्य के अन्दर के सन्देह छूट जाते हैं और संशयों से निवृत्त होकर ही मनुष्य सच्चा त्यागी बनता है। त्याग का क्या चिन्ह है? यह सवाल बड़ा टेढ़ा है। हम लोग अपने आप को नित्य धोखा देते हैं कि हम त्यागी हैं किन्तु कैसे सिद्ध हो कि हम त्यागी हैं। कृष्ण भगवान् ने कसौटी बतला दी, प्रतिकूल से जब द्वेष न रहे, अनूकूल से जब प्रेम न रहे, तब जानो त्याग का प्रवेश अपने अन्दर हुआ है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का दृष्टान्त इस जगह ठीक घटता है। दिन को अयोध्या में घोषणा हो गयी कि दूसरे दिन प्रातः रामचन्द्र को सूर्यवंशियों के राज्य का स्वामी बना दिया जावेगा। कौशल्या अपने भाग्य को अति उत्तम समझती हुई सोयी। रामचन्द्र सारे अवध निवासियों के आशीर्वाद सुन चुके। क्या रामचन्द्र इस प्रसन्नता में भूल कर कुछ बदल गये। कवि कहता है कि वे उसी तरह समय पर सोये। प्रातः काल ब्राह्ममूर्त में उठकर नित्यकर्म में प्रवृत्त हुये। परन्तु जब प्रातः ही महाराजा दशरथ के पास गये और माता कैकेयी ने चौदह बरस बन के जाने को कहा तो क्या उन्हें दुःख हुआ. नहीं न उन्हें राजगद्दी का आनन्द था न बनवास का शोक हुआ। जिस सहज अवस्था में वे पहले थे, उसी में अब भी रहे, उसी शान्त अवस्था से बन को चल दिये। कैकेयी ने समझाना चाहा, आपने उत्तर दिया दिया पिता ने बन का राज्य दिया है। माता! तुम्हारी उसमें सम्मति है भला मुझसे बढ़ क भाग्य शाली कौन है जिसे

माता और पिता दोनों की आज्ञा के पालन का मौका मिले। रामचन्द्र का यह आचरण उसे इस समय बाइस करोड़ हिन्दुओं का ईश्वर बनवा रहा है। हर्ष शोक जीतना निस्सन्देह बड़ा कठिन काम है। इस के लिये बड़े दृढ़ साधनों की आवश्यकता है। किन्तु यह पद भी तो बड़ा ऊंचा है। हिमालय की चोटी पर क्या मनुष्य बिना प्रयत्न पहुंच सकते हैं। हम लोग तो बलिहाज साधनों के सोये हुए हैं।

भारत संतान ! इस समय तुम्हे कृष्ण भगवान् के उपदेश पर चलने की बड़ी आवश्यकता है। परोपकार का काम बड़ा कठिन है। सदियों की दासता से न केवल दूसरे मनुष्यों की ही दासता हम में है परन्तु अपनी इन्द्रियों की अत्यधिक दासता भी हमें खा रही है। इस दासता से स्वतन्त्र होना क्या कुछ आसान काम है ? यह कठिनता भी हमें अविद्या की फंसावट के ही कारण मालूम होती है—अन्यथा यदि एक वार सत्य का साधन आरम्भ करदें तो इससे आसान कोई काम ही नहीं। सात्विक भोजन, वृत्तां और खेतों से बिना परिश्रम और बिना छल और दम्भ के मिल सकता है। क्या तुम देखते नहीं कि एक पशु को वध करने के लिये किस प्रकार धोखों से काम लेना पड़ता है ? इसलिये सब से पहले सात्विक भोजन करने का अभ्यास करो। जिस भोजन से दिमाग को हानि पहुंचे और वीर्य को हानि पहुंचे, वह कैसा ही स्वादिष्ट क्यों न हो, उसे छोड़ दो, शुद्ध भोजन करो। साफ पानी से बढ़ कर पीने

के योग्य और कोई वस्तु नहीं है। परमात्मा का बरसाया हुआ स्वच्छ जल पान करो। तब तुम्हारी बुद्धि स्वच्छ होगी। फिर उस बुद्धि को खूब मांजो। काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार इन शत्रुओं से बुद्धि को सुरक्षित करो। यह बुद्धि के अत्यन्त शत्रु हैं। इस अभ्यास से तुम्हारी आंखें खुल जायंगी। हर एक वस्तु का ठीक स्वरूप तुम्हें दिखाई देने लगेगा और तब तुम्हारे संशय दूर होंगे। निश्चय सच जानो कि जब तक तुम्हारे अंदर संदेह है, तब तक तुम अपने आपको जीवित नहीं समझ सकते।

कृष्ण भगवान् कहते हैं–'संशयात्मा विनश्यति'। सचमुच संदेह में डूबा हुआ मनुष्य आखिरकार आत्मा का नाश कर लेता है। परंतु सर्वसंशय से मुक्त होना बिना बुद्धि की स्वच्छता के असम्भव है और बुद्धि की स्वच्छता बिना सात्विक कर्मों के हो नहीं सकती इसलिये यह उपदेश हमारे लिये अन्य कोई मार्ग नहीं छोड़ता। योग से सच्चा त्याग हो सकता है। योग कहते हैं चित्त की वृत्तियों के निरोध को। और त्याग कहते हैं उच्च प्रकार के परोपकार के कार्य को। साधारण पुरुष इन शब्दों के अर्थ समझ नहीं सकते।

आर्य संतान हा! संशयों ने तुम्हें रसातल को पहुंचा दिया, तुम विदेशियों की प्राकृतिक उन्नति को देख कर उसी को सच्ची उन्नति का साधन समझ बैठे। प्राकृतिक उन्नति भी एक गौण साधन, मनुष्य के परम उद्देश्य का है। जिसने आत्मिक उन्नति की; प्रकृति उसके सन्मुख हाथ बांधे स्वयं खड़ी रहती है। आत्मिक उन्नति में शारीरिक और प्राकृतिक उन्नति दोनों सम्मलित हैं। परन्तु प्राकृतिक उन्नति में आत्मिक उन्नति

सम्मिलित नहीं। हे ऋषि संतान ! सांसारिक चमक दमक के अंदर अपने वास्तविक उद्देश्य को न खो बैठ। भोग, विलास ऐश्वर्य सुख के देने वाले नहीं हैं। सुख इनके त्याग में ही है। तुम भोग विलास में फंसे हो। समझते हो कि तुम संसार के नियमों मे स्वतन्त्र होगये किंतु क्या तुमने यह भी कभी सोचा है कि यह स्वतन्त्रता नहीं है परन्तु बेशरमी है। तुम इन्द्रियों के अत्यधिक दास बन रहे हो और इस दासता से छूट नहीं सकते। यदि तुम्हारे अंदर सच्चे त्याग की अभिलाषा है तो ज्ञान नेत्रों को शुद्ध करके अपने और अपने भाइयों की दशा को देखो। ऐसे लोग बहुत कम हैं जिन तक कोई उपदेश पहुंच सकता है। वे लोग बहुत अधिक हैं जिनको यह उपदेश स्पर्श भी नहीं कर सकते ! इस लिये तुम इस उपदेश के अनुसार आदर्श पुरुष बनने की चेष्टा करो ताकि वे जो निरक्षर हैं, जिन का कागज, कलम, दवात, पुस्तकों से कोई सम्बन्ध नहीं है वे तुम्हारे जीवन रूपी पुस्तकों का पाठ करके अपने जीवन को सफल कर सकें। शब्दार्थ—

(छिन्नसंशय: ज्ञान द्वारा जिसके संशय मिट गये हैं, (सत्वसमाविष्ट:) जिसका अन्तःकरण सतोगुण से परिपूर्ण हो चुका है, ऐसा (मेधावी) धारणावती बुद्धि से युक्त (त्यागी) त्याग वृत्ति वाला पुरुष (अकुशलं कर्म) प्रतिकूल कर्म से (न द्वेष्टि) घृणा नहीं करता और (कुशले) अनुकूल कार्य मे (न अनुषज्जते) लिप्त भी नहीं होता। वह सब कामों में समबुद्धि रहता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनरतः सिद्धिं, यथा विन्दति तच्छृ ॥
यतः प्रवृत्तिभूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

गीता १८. अ० ४६ ४६. श्लोक

उपदेश

प्रत्येक मनुष्य अपने उद्देश्य तक पहुंचने की योग्यता रखता है । दासता के जूए में जिनकी गर्दन है वे कभी भी आशा नहीं कर सकते कि उनमें से कभी भी कोई राजा बनेगा । अमरीका का एक बूट साफ करने वाला लड़का भी आशा कर सकता है 'कि सम्भवतः वह किसी समय अपने देश का राष्ट्रपति बन जाय । संसार में कोई ऐसा जीव नहीं है जो अपने उद्देश्य तक न पहुंच सके । मार्ग सब के लिये एक जैसा है । उसकी कठिनताय और सुगमतायें राजा और प्रजा विद्वान् और मूर्ख सब के लिये एक जैसी हैं । हां ! भेद अपने अपने कर्मों का है । गुसाईं तुलसीदास जी कहते हैं

'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा ।
जो जस करहि सो तस फल चाखा' ॥

'जैसी करनी वैसी भरनी' । यह नियम सब के लिये है तब अपने कर्तव्य के पालन करने से ही अपने उद्देश्य की ओर कदम उठ सकता है । उस वास्तविक कर्तव्य की पूर्ति से

मनुष्य को रोकने के लिये इस संसार में अनेक प्रलोभन हैं। एक एक पग पर बीसों विषय जीवात्मा को अपनी ओर खींचते हैं और वह मोह में फंसकर पग पग पर ठोकरें खाता है। जब इस प्रकार अनेक प्रलोभन रास्ते में हां तो मनुष्य अपने उद्देश्य की ओर कैसे चल सकता है ? इस का आसान उपाय श्रीकृष्ण जी महाराज बताते हैं। अगर तुम अपने कर्तव्य के पूरा करने में दत्तचित्त होना चाहते हो तो सबसे पहले सम्पूर्ण आत्मज्ञान के तत्व को समझोते। सारा जगत् कहां से आया ? क्या इसके अन्दर स्वयं बनने की शक्ति है? जड़ जगत् स्वयं कैसे बन सकता है ? और फिर कैसे स्वयं बिगड़ भी सकता है ? इसलिये इसके अन्दर कोई चेतन शक्ति अवश्य काम कर रही है। जब कि हम सारे जड़ जगत् में एक ही नियम का परिपालन होते देखते हैं तब हमें कोई सन्देह नहीं रहता कि यह चेतन शक्ति हर जगह व्यापक है। कोई सांसारिक अवस्था उसकी उपस्थिति से खाली नहीं है। गुलाब के फूल को यदि सुन्दरता मिली है तो उसने उस सुन्दरता की रक्षा के लिये उसके चारों ओर कांटों की बाढ़ लगाई है। प्रभु ने हर वस्तु के अन्दर अपनी चेतनता का प्रकाश किया है। इसलिये जो बुद्धिमान् मनुष्य अपने कर्तव्य को समझ लेता हैं उसके लक्ष्य को सांसारिक प्रलोभन बिगाड़ नहीं सकते। व्यापक परमात्मा की उपस्थिति को हर स्थान पर अनुभव करने वाला मनुष्य,प्रत्येक विषय की ठोकर से बचकर अपना कर्तव्य पूरा करता हुआ, सीधा अपने लक्ष्य की ओर

चला जाता है। वह मार्ग में एक सुन्दर मनुष्य को देखता है, एक पल के लिये ठहर जाता है परन्तु फौरन उसके मन में विचार उठता है कि यह आकृति दस साल बाद बिलकुल बदल जायगी यदि कोई रोग लग जाय तो सम्भवतः एक दिन में जमीन आसमान का अन्तर आ जाय। मननशील व्यक्ति अपने मन में सोचता है कि इसके अन्दर सुन्दरता कहां से आयी? क्योंकि यदि इसका यह स्वाभाविक गुण होता तो इसमें परिवर्तन न आता। फिर क्यों उस सौन्दर्य के स्रोत की ओर न चले जिससे कि इस तुच्छ पंचभूतों के शरीर ने सुन्दरता प्राप्त की है। इस विचार ने पूर्णरूप धारण किया और बुद्धिमान् मनुष्य आगे चल देता है, इस प्रकार उसने लक्ष्य को समझ कर अपने कर्तव्य का सहारा लेलिया है। जिसने अपना लक्ष्य परमात्मा को बनाया है और उसे सारे विश्व की माता अनुभव किया है, वह सांसारिक विषयों के अन्दर कैसे फंस सकता है हर सौन्दर्य के अन्दर वह माता का सौन्दर्य देखता है और प्रत्येक आकर्षक पदार्थ में उसे माता का प्रेम नजर आता है। न केवल यही, बल्कि कष्ट और क्लेश में भी उसे पिता के न्याय का हाथ दिखाई देता है। फिर उसके समीप न मोह आता है, न शोक और वह आदर्श मनुष्य सीधा परमपद की ओर चल देता है।

प्रिय पाठकगण! अपने कर्तव्य को समझो। वही तुम्हारा धर्म है। परमात्मा की भक्ति और उसकी पूजा तुम्हें जीवन

उद्देश्य की ओर ले चलेगी। हम उसकी पूजा कैसे करें ? किस वस्तु में वह व्यापक नहीं है। और कौनसी वस्तु है जो उसकी नहीं है ? उसके लिये हम बाहर से भेंट क्या लायेंगे ? इसलिये तो वेद ने कहा है कि मन, वचन और कर्म से किया हुआ, सब कुछ परमात्मा के अर्पण करो। यहां तक कि "आत्मा यज्ञेन कल्पताम्। यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्"। फिर परमधाम से तुम दूर न रहोगे। क्योंकि परमधाम के लिये समय या दूरी कुछ रुकावट नहीं है। परमधाम तुम्हारे अन्दर मौजूद है और तुम बाहर भटक रहे हो। परम पिता के अमृत पुत्रो ! अपने परम अधिकार को समझो और उस तक पहुंचने के अधिकारी बनो।

शब्दार्थ—

हे अर्जुन ! (स्वे स्वे कर्मणि) अपने अपने कर्तव्य में (अभिरतः) दत्तचित्त हो कर हो (नरः) कर्मशील मनुष्य (संसिद्धिं, लभते) इच्छानुसार निज उद्देश्य को प्राप्त करता है। (स्वकर्मनिरतः) अपने कर्तव्य में निरत मनुष्य (यथा) जिस प्रकार से (सिद्धि विन्दति) सफलता को पाता है (तत् शृणु) वह उपाय सुनो।

हे अर्जुन (यतः भूतानां प्रवृत्तः) जिससे सकल संसार पैदा हुआ है और (येन) जिसने (सर्वमिदम्) इस विश्व को (ततम्) अपने अपने सामर्थ्य से व्याप्त किया हुआ है (तम्) उस परमेश्वर को (स्वकर्मणा) अपने कर्तव्य से (अभ्यर्च्य) पूजा करके, प्रसन्न करके (मानवः) मनुष्य (सिद्धिं विन्दति) यथार्थ सफलता को, उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है।

❀
❀❀

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥

गीता १८ अ० ४७ श्लोक ॥

उपदेश

मनुष्य सृष्टि को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चार वर्णों में ईश्वरीय नियमों ने ही विभक्त कर दिया है। गुण, कर्म और स्वभाव तीनों के उचित विचार से मनुष्य को किसी वर्ण में प्रवेश करने का अधिकार है। जब इन कसौटियों ने वर्ण का निश्चय कर दिया तो बुद्धिमान् मनुष्य उन्हीं कर्तव्यों के पूरा करने में तत्पर रहता है जो कि गुण, कर्म स्वभावानुसार उसके लिये निश्चित किये गये हैं। जिस तरह कि अपने शरीर की सेवा करता हुआ मनुष्य भी दास नहीं कहलाता उसी तरह अपने वर्ण के कर्तव्यों को पूरा करता हुआ, शूद्र भी घृणा के योग्य नहीं। वेद में परमात्मा ने वर्णों के विभाग को एक मनुष्य की बनावट से प्रगट किया है। जिस तरह मनुष्य की बनावट में मुख, बाहु जंघा और पैर हैं और चारों भागों के समूह का नाम मनुष्य है इसी तरह मुख की अपेक्षा में ब्राह्मण, बाहु की अपेक्षा में क्षत्रिय, जंघा की अपेक्षा में वैश्य, और पैरों की अपेक्षा में शूद्र इन चारों के समूह का नाम मनुष्य समाज है। अगर पैर को अपने काम में लगा होने के कारण से घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता तो शूद्र को घृणा की दृष्टि से देखने वालों को हम मनुष्य कैसे कह सकते हैं ? क्या यह तप

नहीं है, कि शूद्र अपने स्वामी की सेवा की लगन में अपनी बराबरी के दरजे की मनुष्यता को भूल जाता है। किसी वर्ण के कर्तव्यों को भी घृणा की दृष्टि से देखा नहीं जा सकता। कोई समय था कि इंगलैण्ड जैसे स्वतन्त्र देशों में भी व्यापारी लोगों को घृणा की दृष्टि से देखा देखा जाता था। परन्तु आज उन देशों में व्यपारी, मनुष्यों के राजा समझे जाते हैं और अंगरेज दुकानदारों की कौम होने का अभिमान करते हैं।

यह वैदिक आचरण है, किन्तु कितने शोक की बात है कि जिस स्थान से वैदिक धर्म सारे संसार में फैला, जिस देश में उसने युवावस्था को प्राप्त किया, उस देश में आज 'बनिया शब्द घृणा, से बोला जाता है। और हर नीच मनुष्य तक दूसरे से लड़ता हुआ ताना देता है "मुझे क्या कोई बनिया समझा है"। आह ! कितना परिवर्तन है। अपना धर्म पालन करते हुये कोई भी दूषित नहीं हो सकता किन्तु इसके विपरीत दूसरे का धर्म भी मनुष्य को उभार नहीं सकता। इस का अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य को उच्च बनने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। नहीं, अपने अन्दर जिस कर्त्तव्य के पूरा करने की शक्ति न हो उसको पूरा करने की चेष्टा न केवल दूसरों को हानि ही पहुंचाती है बल्कि अपने आपको भी पाप के गढ़े में गिरा देती है। क्या वर्तमान अवस्था में पैर से सोचने का काम लिया जासकता है और क्या सिर से चलने का काम पूर्णतया हो

सकता है ? माना कि प्रायः नट सिर के बल चलते हैं परन्तु ऐसे चलने वालों को कोई भी सभ्य नहीं समझता और न यह लोग ससार का कुछ भला कर सकते हैं। जिस तरह भुजा का काम उरु से नहीं हो सकता उसी तरह वैश्य में यह शक्ति नहीं है कि वह क्षत्रियों के कर्तव्य को पूरा कर सके। अगर एक वकील को चिकित्सालय में बैठाकर हम उससे चिकित्सा कराना आरम्भ करें तो क्या वह सौ में से नब्बे बीमारों को मार न देगा ? जो जिस काम के लिये तय्यार किया गया है उसी काम के करने में उसकी शोभा है।

इसी प्रकार आश्रमों की व्यवस्था है। जिस मनुष्य ने मानसिक और आत्मिक शिक्षा भली प्रकार प्राप्त नहीं की है और उसका अनुभव करके परमात्मा की समीपता प्राप्त नहीं की है उसका संन्यास धारण करना जनता को खतरे में डालना है। भंगेड़ी; चरसी, लम्पट व्यक्तियों का ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना व्यर्थ है। जिस गृहस्थ आश्रम पर सारे आश्रमों के जीवन का निर्भर है उसके अन्दर कामी, लोभी और दुराचारी मनुष्य का प्रवेश करना, हानिकारक है इसका स्पष्ट उदाहरण इस समय हम अपने गिरे हुये देश में देख रहे हैं। कृष्ण भगवान् के उपदेश को आज सबसे बढ़कर कृष्ण भक्त भूले हुये हैं।

प्रिय पाठकगण ! परमात्मा ने तुम में से प्रत्येक को विशेष विशेष शक्तियां दी हैं। अपने कर्मानुसार तुमने इन शक्तियों को निर्बल या बहुत प्रबल किया है, इसका प्रमाण तुम्हारा आचार है। उस आचार के अनुसार तुम अपने कर्तव्यों को पूरा करना आरम्भ कर दो। जिसे झाड़ू मिला है वह क्यों न जगह साफ करे। जिसे सूक्ष्म बुद्धि मिली है वह क्यों मौन साधकर उससे संसार को वञ्चित करे ? क्यों न वह उसके बल से भूले भटकों को सीधे रास्ते पर लगाये ? आज भारतवर्ष में सभी ब्राह्मण बनना चाहते हैं। हम में क्षत्रिय बनने का साहस ही नहीं है और वैश्य बनने में प्रतिष्ठा कहां ? लेकिन शूद्र बनना तो अलग रहा, शूद्र कहलाना भी कोई पसन्द नहीं करता।

प्रिय पाठकगण ! शूद्रों की इस देश को ज्यादा आवश्यकता है। सेवकों के अभाव ने ही तो यह देश रसातल को पहुंचा दिया है। तुम में से कितने हैं जो शूद्र कहलाने से न घबराते हुये, मनुष्यमात्र की सेवा का प्रण धारण करेंगे और वैदिक धर्म के चमत्कार से अंधकार को दूर करने का यत्न करेंगे।

शब्दार्थ—

(सु अनुष्ठितात्) भली भांति किये गये (परधर्मात्) दूसरे के धर्म से, कर्तव्य से (विगुणः) छोटा तथा स्वल्प (स्वधर्मः) निज का कर्तव्य (श्रेयान्) अधिक श्रेष्ठ है, उत्तम है। क्योंकि (स्वभावनियतं) निज स्वभाव के अनुकूल (कर्म कुर्वन) कर्तव्य का पालन करता हुआ मनुष्य (किल्विषम्) दोष को, पाप को, अनर्थ को (न आप्नोति) नहीं प्राप्त होता।

१५

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

गीता १८. ४६।

उपदेश

धर्म के पालन में जो मनुष्य दृढ़ हैं, कर्तव्य के पूरा करने को ही जिन्होंने जीवन का उच्च आदर्श समझा हुआ है, सच्चे त्याग को सिद्ध करना, उन्हीं के लिये सम्भव है। क्या केवल यह जान लेने से कि सांसारिक विषयों में नहीं फंसना चाहिये मनुष्य विषयों की दासता से स्वतन्त्र हो सकता है? और क्या केवल त्याग के गौरव को समझ लेने से ही मनुष्य त्यागी हो जाता है? नहीं, इन उच्च अवस्थाओं में पहुंचने के लिये बड़े साधनों की आवश्यकता है और इन साधनों में से सबसे प्रथम बुद्धि को स्वच्छ करने की आवश्यकता है। जब तक बुद्धि उस दर्पण के अनुसार स्वच्छ नहीं होती, जिसमें प्रत्येक वस्तु का प्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों दिखाई देता है तब तक वह जिज्ञासु के लिये सच्चा मार्ग दिखाने का काम नहीं दे सकती। तब हम

बुद्धि को कैसे स्वच्छ करें ? बुद्धि वास्तव में तो स्वच्छ ही है। क्योंकि जिस जीवात्मा का वह एक पुर्जा है वह जीवात्मा स्वरूप से स्वयं स्वच्छ है। हां ! अविद्या का जंग उसे मलिन कर देता है और तब उसे वस्तुओं का असली स्वरूप दिखाई नहीं देता।

साधारण मनुष्य सांसारिक सुखों को ही जीवन का लक्ष्य समझ लेते हैं और उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हुये अपने अमर आत्मा का नाश कर लेते हैं। जिस मनुष्य को अधिक मिठाई खाने के बाद भारी कष्ट मिल चुका हो, उसे भी हम बार बार उसी मिठाई के इर्द गिर्द भौंरे की तरह मंडराता हुआ देखते हैं। क्या इस मनुष्य की उन पतंगों से कुछ अधिक उच्च अवस्था है जो कि अपने भाइयों को हजारों की संख्या में दीपक के आसपास मरते हुये देखकर भी उसी पर न्योछावर होने के लिये जाते हैं। मनुष्य को बुद्धि तिरोभाव की अवस्था में नहीं दी गई है। जहां वनस्पति और पशु सृष्टि को बुद्धि से काम लेने का अधिकार नहीं है, वहां मनुष्य की बड़ाई ही यह समझी गयी है कि वह बुद्धि से काम ले सकता है। इसलिये मनुष्य का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि बुद्धि को मांजना शुरू करे। इस पर जो जंग लग गया है उसको वह उतारने का परिश्रम करे। तब उसको सांसारिक सुख व दुःख की वास्तविकता दिखाई देगी। उस समय मालूम होगा कि जिसे उसने सुख समझा था वह वस्तुतः सुख न था, जिसे वह दुःख समझता था वह यथार्थ में दुःख न था। फिर शारीरिक

व्यायाम में दुःख न मालूम होगा और नरम गद्देलों पर लेटना सुखदायी न नजर आयगा। तब पता लगेगा कि भोग के अन्दर सुख नहीं है और कवि के कथन के साथ वह सहमत हो सकेगा।

'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः'।

भोगों को हम नहीं भोग रहे अपितु भोग हमको भोग रहे हैं। कामी पुरुष समझता है कि वह भोग करता है परंतु सत्य यह है कि इन्द्रियों का काम उसे भोगता है। यदि आंख से देखने का काम लेने को जगह हम रूप के अन्दर उसको फंसा देते हैं तो कहा जा सकता है कि हम रूप को भोग रहे हैं, लेकिन यथार्थ में रूप हमें भोग रहा होता है। न कान और न नाक और न जिह्वा और न त्वचा, कोई भी इन्द्रिय अपने विषय को नहीं भोग रही परंतु ये विषय न केवल हमारी इन्द्रियों को ही भोग रहे हैं बल्कि उनके द्वारा जीवात्मा को अपना दास बना रहे हैं। इसलिये सबसे प्रथम बुद्धि को स्वच्छ बनाने के किसी साधन से काम लेना चाहिये।

वर्णाश्रम धर्म से बढ़ कर बुद्धि के स्वच्छ बनाने का कोई साधन नहीं है। जो मनुष्य अपने आश्रम और अपने वर्ण के कर्तव्य को धर्म समझ कर पालन करता है उसकी बुद्धि उसी साधन से स्वच्छ हो जाती है। जो मनुष्य अपने कर्तव्य को समझने वाले हैं वे संसार की दृष्टि में गिरे से गिरे हुये काम को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखते। ऐसे आचरण से उनकी

बुद्धि स्वच्छ हो जाती है। उन्हें ज्ञात होता है कि महत्ता कार्य करने में है न कि कार्य की उधेड़-बुन करने में। काम से, बिना संदेह यहां अभिप्राय वैदिक नेक कार्मो से है न कि अशुभ कार्यों से। जिसने कर्म की महानता को समझा, उसने निःसंदेह बुद्धि की सफाई की कुंजी को पा लिया है। तब अभिमान का लेश भी उसके मन में नहीं रह सकता। जब कर्म ही प्रधान है और उसका फल कोई चीज नहीं है; जब झाडू लगाना, चौकी बिछाना और उस पर बैठकर न्याय करना सबके सब कर्म एक ही हैं, जब भेद है केवल कर्मों की बदनीति के दखल से, तब इसमें अभिमान कहां रह सकता है? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र सब अपने अपने कर्तव्य के पूरा करने में लगे हुये हैं। यदि संन्यासी सच्चे धर्म को समझ कर उसका निधड़क प्रचार कर रहा है तो क्या ब्रह्मचारी वेद विद्या की प्राप्ति के लिये उत्साह से काम करता हुआ संन्यासी से कम प्रतिष्ठा के योग्य है? और क्या गृहस्थ-संसार की कठिनाई का मुकाबिला करता हुआ, धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने में कष्ट उठानेवाला क्या कुछ कम माननीय है? नहीं। फिर अभिमान कहां? जब अभिमान नष्ट हो गया तो फिर 'फंसावट' का मतलब ही क्या रहा? उस समय सच्चा त्याग मनुष्य के अन्दर घर करता है और वह निष्काम भाव से प्रत्येक कार्य को करता हुआ उन कर्मों के बंधन से स्वयं स्वतन्त्र हो जाता है।

प्रिय पाठक गण! इस निष्काम सिद्धि के लिये ही शास्त्रों

ने सारे जप, तप, यम नियम आदि नियत किये हैं। इसीलिये सारे संसार को मित्र की दृष्टि से देखने की वेद भगवान ने आज्ञा की है। आओ! सच्चे दिल से परमात्मा से प्रार्थना करें कि वह हम सबको अविद्या रूपी अन्धकार से निकाल कर प्रकाश के सीधे मार्ग में ले चले।

शब्दार्थ—

(सर्वत्र असक्त बुद्धिः) संसार के सब सुखभोग में जिसकी बुद्धि नहीं फंसी है ऐसा (विगतस्पृहः) अभिमान से रहित (जितात्मा) जितेन्द्रिय पुरुष (सन्यासेन) सच्चे त्याग से (परमां) महती (नैष्कर्म्य-सिद्धिम्) निष्कामसिद्धि को (अधिगच्छति) प्राप्त करता है।

१६.

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

मनु. २ । ६३ ॥

उपदेश

आत्मा स्वभाव से दर्पण की तरह स्वच्छ है । जैसे दर्पण को जितना अधिक स्वच्छ किया जाय उसी प्रकार अधिक सफाई के साथ उसमें वस्तुओं की शकलें ठीक ठीक दिखाई देंगी या जिस प्रकार मैलापन उस पर आ जावे उसी प्रकार वस्तुओं के रूप दिखाने के वह अयोग्य हो जाता है इसी तरह आत्मा की अवस्था है । यदि नियम आदि साधनों से आत्मा को साफ किया जावे तो उसकी बुद्धि ऐसी उग्र अर्थात् सूक्ष्म हो जाती है कि वह ब्रह्मधाम तक जाने के योग्य बन जाता है । किन्तु अगर उस पर विषयों का मैल जम जावे तो उसमें वस्तुओं के यथार्थ रूप प्रकाश की शक्ति नहीं रहती । जीवात्मा का जीवन उद्देश्य क्या है ? इसका विचार उसे हर समय चाहिये, तब वह विषयों की दासता से बड़ी सुगमता से

स्वतन्त्र हो सकता है। विषयों में फंसने का परिणाम ही सब प्रकार के दोष हैं। यह इसलिये कि विषयों में इन्द्रियों के द्वारा खिंचा हुआ पुरुष, विषयों को ही अपना आदर्श समझता है। यथार्थ में न केवल विषय, बल्कि इन्द्रियां भी जीवात्मा को ज्ञान पहुंचाने के लिये साधन मात्र का काम देती हैं। कल्पना करो कि एक बडे योग्य पदार्थवेत्ता को एक बडे रसक्रिया भवन में नियत किया गया है। इसके आधीन न केवल इस भवन के सम्बन्ध में बहुत से सहायक दिये गये हैं बल्कि उसकी अपनी सेवा के लिये भी दस, बारह सेवकादि नियत हैं। क्या विना बताये वह पदार्थ ज्ञानी यह नहीं समझ सकता कि उसको पदार्थों का तत्वज्ञान प्राप्त करके दूसरों पर प्रकाश करने की इच्छा से उस रसक्रिया भवन में भेजा गया है। अगर फिर भी वह अपने वास्तविक लक्ष्य को भूलकर दिन भर सेवकों से आनंद लेने में ही फंसा रहे तो उसे कौन बुद्धिमान समझेगा ?

मनुष्य रचना में परमात्मा ने अपनी अपार दया से बुद्धि का एक विशेष पद रक्खा है। शरीर पच्चीस वर्ष की आयु तक बढ़ता है और चालीस तक अपनी उन्नति को स्थिर रख सकता है, उसके पश्चात् ह्रास आरम्भ हो जाता है। यह अवस्था उन पुरुषों की है जो साधारणतः अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे पुरुष अन्त में सौ बरस में चल बसते हैं। विशेष नेकी में पुरुषार्थ करने वाला पुरुष तीनसौ साल तक जीवित रह सकता है। इससे बढ़कर जीना मनुष्य की हिम्मत से बाहर है परंतु

जो असाधारण रूप में पाप का जीवन व्यतीत करते हैं उनका जीवन बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है और उनके लिये युवावस्था और बुढ़ापे की आयु में कोई भेद नहीं रहता। चाहे कोई अवस्था हो, मनुष्य ने अवश्य नाश होना है। यह बनावट अनन्त समय तक स्थिर नहीं रह सकती। न शरीर, न इन्द्रियां, रहने वाली हैं, हां; इन सबके नियम जीवात्मा के अन्दर उपस्थित रहते हैं। ये इन्द्रियां किसी नियत सीमा तक उन्नति कर सकती हैं, उसके बाद उन्हें नीचे गिरना पड़ता है। किन्तु बुद्धि है जिसकी उन्नति मरण पर्यन्त बंद नहीं होती और फिर मरने के पश्चात् दूसरे जन्म में भी स्थिर रह कर आगे चलती है इसलिये बुद्धि को उन्नत करना ही मनुष्य का परम धर्म है। इन्द्रियां और विषय आदि इस परम उद्देश्य के अंदर केवल *साधन* हैं परंतु मनुष्य कैसा मूर्ख है कि इन साधनों *का दास बन जाता* है। आंख हमें इसलिये दी गयी है *कि हम सारे संसार के* रूप की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को समझ सकें, और *उनका* ज्ञान प्राप्त करके उसको बुद्धि की उन्नति का साधन बनावें। परंतु हम में से कितने मनुष्य हैं जो रूप के दास नहीं बन रहे। इसको छिपाने के लिये हज़ारों पाप कर्म किये जाते हैं। इसी तरह प्रत्येक इन्द्रिय जीवात्मा की दास बनायी गई है। परंतु वही दास जीवात्मा को अपने वश में करके नाशवान् विषयों के दास उसे बना रहे हैं। इसी कारण मनुष्य को संसार में क्लेश दिखाई देते हैं।

परमात्मा ने स्वभाव से इस संसार को स्वर्गधाम बनाया था। मनुष्य को कर्म-योनि देकर उस स्वर्ग धाम से पूरा लाभ लेने के योग्य बनाया था। हम मनुष्यों ने स्वयं इसे अपने कर्मों से नरक धाम बना रक्खा है। विषय संग से ही सारे दोष पैदा होते हैं। जिसके सेवक उसके वश में हैं वह सुखी है। जिसके सेवक उसके मालिक बने हुये हैं उससे बढ़ कर कोई दुःखी नहीं है। अतः इन दोषों से छूटने के लिये मनुष्य को विषयों से स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिये। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इन्द्रियों का विषयों के साथ जो सम्बन्ध हो जाता है उसे मनुष्य छोड़ सकता है और इसलिये वह उसे फौरन छोड़ देवे। अगर यह सम्बन्ध टूट जावे तो प्रत्यक्ष ज्ञान ही पैदा नहीं होता। प्रत्यक्ष ज्ञान के न होने से अनुमान इत्यादि की समाप्ति हो जाती है। तब जब प्रमाण ही स्थिर न रहे तो प्रमेय वस्तु कैसे जानी जा सकती है। इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध बराबर रहता है और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जीवात्मा इस जीवन में जुदा नहीं हो सकता। परंतु हां! वह संबन्ध मालिक और सेवक का होना चाहिये। ऐसा न हो कि सेवक स्वामी बन जायें और स्वामी सेवक बन जावे।

प्रिय पाठकगण! हम सब अपने परम उद्देश्य को भूले हुये हैं। विषयों की वास्तविकता को न जानते हुये हम उनके भोग ही में सुख माने बैठे हैं। इसलिये हमारे पीछे बीसों दोष लगे हुये हैं और हम को पीड़ित कर रहे हैं। विषयों से

छुटकारा प्राप्त करने का यत्न आज से ही आरम्भ करदो जिससे जिस समय जीवात्मा शरीर से पृथक् होने लगे उस समय हमारी कोई भी वासना सांसारिक पदार्थों में बाकी न रहे। ताकि हम अपने परम उद्देश्य का ध्यान करते ही प्राण त्याग कर मुक्ति के भागी बन सकें।

शब्दार्थ—

(इन्द्रियाणां) इन्द्रियों के (प्रसङ्गेन) विषयों में फंसने से मनुष्य (असंशयम्) निश्चय से (दोषम् ऋच्छति) दोष का भागी होता है। किन्तु (तानि एव तु) उन्ही इन्द्रियों को (संनियम्य) संयम करके (ततः सिद्धिं) बाद में सफलता को (नियच्छति) प्राप्त कर लेता।

१७

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

मनु. २ । ९४ ॥

उपदेश

इन्द्रियां नये बछेरों की भांति इधर उधर भागती हैं। उनको किसी वस्तु की इच्छा है। बछेरा पैदा होते ही इधर उधर पैर मारने लगता है। घास और चारे को न पहिचानता हुआ भी उनके भोग की इच्छा अपने अन्दर रखता है, किसी को बतलाने की आवश्यकता उसे नहीं होती। कुछ देर बाद वह स्वयमेव घास खाने लग जाता है। जिस प्रकार दूसरे घोड़ों को करते देखता है वैसे ही स्वयं करने लग जाता है किंतु क्या घास मिलने से और पेट भर कर खा लेने से उसको शान्ति होती है। एक खेत से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में, इसी उधेड़-बुन में वह लगातार लगा रहता है। कारण क्या है! घास खाने या दूसरी खुराक पहुंचने से उसकी तृप्ति नहीं होती? परंतु जहां भूख ही नहीं रहती, वहां इच्छा 'बहुत अधिक चमकती है और इसी प्रकार इधर उधर फिरता हुआ बछेरा केवल चन्द दिनों का महमान होता है। अपनी इच्छा को पूरा करने के लिये पहाड़ और जंगल मे वह कुछ भेद नहीं करता। कई वार ऐसा

भी होता है कि वह बीहड़ रास्ते में ठोकरें खाकर मर जाता है। तब हम यह नहीं कह सकते कि उसने कोई भले का काम किया। परंतु इसके विपरीत यदि बछेरा किसी बुद्धिमान् मनुष्य के वश में आ जाता है तो उसका स्वामी, जहां, समय पर उसके लिये, केवल घास ही नहीं किंतु दाने का भी प्रबन्ध कर देता है—और उसके पीने के लिये स्वच्छ जल सामने रख देता है, वहां उसे काम योग्य बनाने का भी बड़ा प्रयत्न करता है और कुछ दिनों में उसे इस योग्य बना लेता है कि वह सवार को उसके इशारे पर हर जगह ले जा सके और संसार के कामों में एक उपयोगी भाग ले सके। यही अवस्था इन्द्रियों की है। विषयों को अनुभव करते हुये, इन्द्रियां बेबस उसके अन्दर दौड़ती हैं। आंख रूप की ओर जाकर यदि उसी को अपना उद्देश्य समझ लेवे (और अविद्या के कारण होता भी ऐसा ही है) तो फिर उसका वहां से लौटना असम्भव है। आग पर जिस प्रकार घी छोड़ो, उसी प्रकार वह प्रज्वलित होती है। विषय भोग भी घी आग में छोड़ने के तुल्य हैं। जितना मनुष्य विषयों को अधिक भोगेगा उतना ही उनके भोगने की इच्छा बढ़ती जाती है। मनुष्य अल्प है, जीवात्मा शरीर रूपी कारागार में कैद होने के कारण, अपनी शक्तियों को और अधिक सीमित कर बैठता है। इसलिये उसके अन्दर भोग की शक्ति भी अनंत नहीं हो सकती, किंतु भोग की इच्छा की कोई सीमा नहीं है। इस इच्छा को वश में रहना कठिन है। इच्छा को वश में करने

के लिये, उसे जड़ से काट देना ही आवश्यक है, किंतु यह कार्य बड़ा कठिन है।

विषय भोग की यह इच्छा कैसे दूर हो। भोग से तो इच्छा दूर होती नहीं फिर क्या मनुष्य भोग का सर्वथा त्याग करदे ? जो मनुष्य भोग से शान्ति की अभिलाषा करते हैं उनकी गणना इस समय संसार में अधिक है। सांसारिक उन्नति को ही जीवन का उद्देश्य समझने वाले इस समय अधिक हैं। सभ्यता का लक्षण ही यह किया जाता है कि जो आवश्यकताओं को बढ़ाकर उनके पूरा करने के लिये मनुष्यों में जद्दोजहद करावे। कहा जाता है कि इस संघर्ष का परिणाम ही इस समय की सभ्यता है। वृक्ष अपने फल से पहिचाना जाता है। जिज्ञासु पूछता है कि क्या इस सभ्यता ने मनुष्यों के हृदय शान्त कर दिये हैं ? क्या नरम से नरम गद्देलों ने मनुष्यों के शरीरों को हर प्रकार के कष्ट सहन योग्य बना दिया है ? क्या एक चुटकी से नगर के नगर नष्ट कर देने वाली भयानक पुड़िया और गुप्त से गुप्त समाचार पहुंचाने व ले बेतार के तार ने संसार के राजाओं को सुख की नींद का दान दे दिया है ? अगर नहीं तो तुम्हारी सारी डींग व्यर्थ है।

सांसारिक उन्नति, जिस पहलु में अच्छी और आवश्यक है, उसी पहलु से उसे देखना चाहिये। विषय भोग के लिये कैसे ही आश्चर्य-जनक साधन क्यों न पैदा करो, उनसे इन्द्रियों की तृप्ति नहीं हो सकती। दूध के मक्खन को चाहे, किसी

शकल में बदल कर आग में डालो, आग कदाचित् शान्त न होगी। क्या हलवे में मिलाकर, घी को आग में डालने से आग शान्त हो जाती है? आग को शान्त करने के लिये आवश्यक है कि घी का डालना बिलकुल बन्द कर दिया जाय। किन्तु क्या घी डालना बिलकुल बन्द कर देने से आग शान्त हो जायगी। हां, कुछ समय के लिये अवश्य शान्ति की ओर चलेगी। किंतु यदि उसके क्षेत्र में शुष्क लकड़ियां आ जावेंगी तो वह फिर चमक उठेगी। इसी तरह भोगों से बिलकुल पृथक् हो जाने से भी चाहे कुछ समय के लिये इन्द्रियां शान्त सी प्रतीत होती हैं परंतु वह सदा के लिये शांत नहीं होतीं। ज़रा से सम्बन्ध से वह इच्छा फिर जाग उठती है और बेबस इन्द्रियों को उसके विषय के अन्दर फंसाकर जीवात्मा को फिर से अशांत कर देती है। ऐसी अवस्था में यद्यपि इलाज अधूरा है तब भी मुकाबिला रोग के अधिक कष्ट और अधूरे इलाज का है। इसलिये मनु जी महाराज यहां केवल इतना ही निश्चय करते हैं कि विषय भोग के अन्दर फंसने की अपेक्षा, उनसे बचना श्रेष्ठ है। क्योंकि भोग हमको दुःख के गढ़े में अधिक से अधिक नीचे की ओर ले जाता है। दूसरी बात यह है कि केवल त्याग को भयानक समझकर हमें वास्तविक शान्ति की खोज में जाना चाहिये। तो भी यह सिद्ध होता है कि भोग की अपेक्षा त्याग अधिक सुरक्षित है और मनुष्य को सीधे मार्ग पर ले चलने वाला है। साधन शून्य, साधारण मनुष्यों के लिये अच्छा है

कि वे हर प्रकार के प्रलोभनों से पृथक् रह कर अनुभव शून्य कहाने का ताना बर्दाश्त करें, किन्तु बिना साधनों के इन्द्रियों के साथ जंग करने में तत्पर न हों।

प्रिय पाठकगण ! जिन सरल हृदय बालकों और बालिकाओं ने अब तक इन्द्रियों की इच्छाओं के वेग की यथार्थता को नहीं समझा है, जिनके हृदय अब तक साधनों की ओर केवल झुके ही हैं; उनको परीक्षा में मत डालो। उनके कोमल मनों को हर प्रकार के विषयों की लुभावनी मूर्ति के दर्शनों से जुदा रख कर ऋषियों के कथनानुसार उन्हें साधन सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करो ताकि वे इन्द्रियों को पूरे तौर पर काबू करके, विषयों को अपना दास बनाने का बल प्राप्त करने के पश्चात् संसार में प्रवृत्त होकर, न केवल आप ही ज्यादा बलिष्ठ बनें, बल्कि आजकल के गिरे हुये मित्रों को भी उठा सकें।

शब्दार्थ—

(**कामानामुपभोगेन**) विषय वासना की पूर्ति से (**कामः**) इच्छा (**जातु**) कभी (**न शाम्यति**) शान्त नहीं होती अपितु वह इच्छा ता (**हविषा**) घी की आहुति से (**कृष्णवर्त्मा इव**) अग्नि की लपट की तरह (**भूय एव**) फिर फिर (**अभिवर्धते**) प्रबल हो जाती है।

यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान्यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ।
तथैतानि न शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥

मनु० २.९५ ९६ ॥

उपदेश

अपने पहले कथन का परिणाम बतलाकर, मनु भगवान आगे चलते हैं। विषयों में दिन रात फंसे रहने से, उसका सर्वथा त्याग श्रेष्ठ है। क्यों ? इसलिये कि जहां विषयों में फँसा हुआ पुरुष, दिन रात नीचे की ओर चलता रहता है, वहां त्यागी कम से कम अपनी साधारण अवस्था पर तो स्थित रहता है। यह माना कि दोनों अवस्थायें भयानक हैं। त्यागी और भोगी, दोनों के दोनों, हर समय गिर सकते हैं किन्तु भोगी तो गिरा हुआ ही है, वह उससे अधिक क्या गिरेगा। एक गेन्द को एक बार नीचे की ओर धकेल दो, वह किसी न किसी समय सबसे निचले तल पर पहुंच जायेगी। हां बीच में अगर और धक्के मिलते जावें तो अधिक तेजी के साथ आ गिरेगी। लेकिन, त्यागी की यह अवस्था अब तक नहीं है। संभव है उचित साधन आरम्भ हो जावें और वह भयानक अवस्था से बच जावे किन्तु ऐसी अवस्था में इन्द्रियों को ज्यादह देर तक रखना खतरनाक है त्याग भी बिना नींवके स्थिर नहीं रह सकता।

जो इन्द्रियां एक बार भोगों में फंस चुकी हों (जैसे कि निन्नानवें प्रतिशतक मनुष्यों की अवस्था है) उन के लिये सर्वथा त्याग असम्भव नहीं तो बड़ा कठिन है। इसलिये त्याग की अवस्था को दृढ़ करने के लिये आवश्यक है कि ज्ञान मनुष्य का सहारा हो। ज्ञान द्वारा एक-एक इन्द्रिय की फंसावट की वास्तविकता को जानकर उसके अपने विशेष विषय की ओर झुकने के कारणों को मालूम करना चाहिये। जिस समय विषयों की असारता और तुच्छता प्रतीत होती है, तो मनुष्य विषयों की ओर झुकता ही नहीं है।

संसार की प्रत्येक बुराई मनुष्य को अपनी ओर, उसी समय तक खींचती है जब तक उसके घृणित रूप पर बनावटी सभ्यता का खोल चढ़ा हुआ रहता है। बुद्धि से इस खोल को उतार कर, हर एक विषय को उसके यथार्थ रूप में देखना ही बुद्धि का वास्तविक उद्देश्य है। इस लिये बुद्धि का सारा बल, विषयों की वास्तविकता के ढूँढने में लगाना चाहिये। इसी काम के लिये हम इन्द्रियां और उनके गोलक प्रदान किये गये हैं। किन्तु क्या बुद्धि द्वारा केवल विषयों की वास्तविकता को जान लेने से हम सब सुरक्षित हो सकते हैं, यही मंजिल बड़ी नाज़ुक है। विषयों के असली स्वरूप को जानकर भी मनुष्य उसकी दासता से नहीं निकल सकता। आवश्यक है कि दिन रात, हर पल हर घड़ी विषयों का वास्तविक स्वरूप

हमारे सामने रहे। इस लिये मनु महाराज, सावधान करते हैं कि इन्द्रियों को जीतने के लिये आवश्यक है कि विषयों के यथार्थ रूप का ज्ञान सदा सब समय बना रहे। वह ज्ञान बिना साधनों के असम्भव है। इस समय संसार का बहुत बड़ा भाग साधन हीन हो रहा है। इसलिये हम बड़े से बड़े ज्ञानियों को विषयों का शिकार हुआ देखते हैं। यही कारण है कि ज्ञानियों के गिरने की सर्वसाधारण चर्चा हमें प्रतिदिन मनुष्य समाज में सुनाई देती है। वरना जो ज्ञानी हैं वे गिर कैसे सकते हैं? केवल ज्ञान से ही मनुष्य ज्ञानी नहीं हो सकता। बल्कि उस जानी हुयी वस्तु को अपना लेने से मनुष्य ज्ञानी हो सकता है। जान लेने से केवल विद्वान् मनुष्य बुराइयों का शिकार हो सकता है। विद्या 'विद्-ज्ञाने' धातु से निकला है, इसलिये केवल विद्वान्, विषयों मे लिप्त होकर बरबाद ही हो सकता है। किन्तु आचरणशील देव, इस कमजोरी से मुक्त हो जाता है।

प्रिय पाठकगण! जब तक एक एक विषय की घृणित शकल को सभ्यता के खोल से निकाल कर आप देख नहीं सकते तब तक आपके मन में कदाचित् घृणा उससे हो नहीं सकती। रूप को ऊपर के पर्दे में से निकालो तो बाकी क्या रहता है? इसको मसाले से पृथक् करो तो उसके अन्दर फंसावट का सामान कौनसा रह जाता है? और फिर इन सब

विषयों के भोग में फंसने का अन्तिम परिणाम क्या होता है ? विषयों की यथार्थता को केवल एक बार जान लेना पर्याप्त नहीं है। उनकी वास्तविकता का ज्ञान हर समय बना रहना चाहिए। ऐसा न हो कि तुम्हें बेखबर पाकर विषय फिर अपना काम कर जावें और तुम्हारी बरसों की कमाई का एक मिनट में नाश कर दें। शरीर में वह शक्ति नहीं है कि इनको वश में कर सके। यह शक्ति आत्मा के अन्दर ही है जिसका साधन बुद्धि है उसको दिन रात मांजने का यत्न करो। बुद्धि-ज्ञानेन शुद्ध्यति। बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है और फिर वह शुद्ध की हुई बुद्धि स्वयं ज्ञान को शुद्ध अवस्था में जीवात्मा तक पहुंचाती है। धन्य हैं वे पुरुष, जो यम, नियमादि साधनों से बुद्धि को माँज कर सत्य ज्ञान के अधिकारी बनते हैं और उसकी रक्षा में पलकर, सांसारिक विषयों को जीत कर अर्थ और परमार्थ के भागी बनते हैं। उनके लिये संसार में फिर कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। संसार उन्हें अपना दिखाई देता है और इस लिये वे तर्क वितर्क और मोह के सागर से पार हो जाते हैं।

शब्दार्थ—

(**यत् च**) जो एतान् सर्वान्)इन सब विषयों को प्राप्नुयात्)प्राप्त करे, भोगे। (**यत् च**) और जो(एतान् **केवलान्**)केवल उन विषयों के(त्यजेन त्याग में प्रवृत्त रहे। इन दोनों में स(**सर्वकामाना प्रापणात्**) सब इच्छाओं की पूर्ति से (**परित्यागः**) कामनाओं का परित्याग ही (**विशिष्यते**) अधिक श्रेष्ठ है।

(**एतानि प्रजुष्टानि**)विषयों में फंसी हुई इन इन्द्रियों को(**असेवया**) विषय भोग से पृथक् रह कर (**संनियन्तुम्**) संयम में रखना (**तथा शक्यन्ते**) न इतना अधिक सम्भव नहीं है (यथा) जितना कि नित्यशः **ज्ञानेन**) सतत ज्ञान पूर्वक संयम में रखने से।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥

मनु० । ६८ ।

उपदेश

जब विषयों में फंसना ही दुःख का कारण है और जीवात्मा को विषयों में फंसाने के साधन इन्द्रियाँ ही हैं, तब निःसन्देह दुःख दूर नहीं हो सकता जब तक कि इन्द्रियों को वश में न किया जाय तब इन्द्रियों पर विजय कैसे प्राप्त हो? यह प्रश्न विचारने के योग्य है। इससे पहिले कि इन्द्रियों को जीतने के साधन मालूम हो सकें, यह जानना अत्यन्त ही आवश्यक है कि इन्द्रियों का जीतने से अभिप्राय क्या है? क्या इन्द्रियों को मार डालने वाला मनुष्य इन्द्रियजित् हो सकता है? क्या जो मनुष्य अपने कानों से बहरा हो जावे, आंखों से अन्धा हो, जिस की जिह्वा में स्वाद लेने की शक्ति न रहे, जिसकी नाक के लिये सुगन्ध और दुर्गन्ध में भेद करना असम्भव हो जाय और जिसके शरीर में छुरी चुभाने से भी कुछ अनुभव करने की शक्ति न रहे, क्या ऐसा पुरुष जिसकी पांचों ज्ञानेन्द्रियों में काम करने की शक्ति का तिरोभाव होजाय, जितेन्द्रिय कहलाने का अधिकारी हो सकता है। ज्ञानेन्द्रियां तो दूर रहीं, (क्योंकि प्रत्येक गति का आश्रय सीधा मन के से साथ है) कर्मेन्द्रियों तक की शक्तियों को नष्ट करने की कोशिश से

कभी वे इन्द्रियां वश म नहीं आतीं। कारण स्पष्ट है। बिना मन के साथ सम्बन्ध हुये, कोई भी इन्द्रिय काम नहीं करती। जब मन हरकत करने वाला मौजूद है तो इन्द्रिय के गोलक को टुकड़े टुकड़े कर डालने से भी उस इन्द्रिय का काम बन्द नहीं होता। मैंने एक साधु को देखा है जो काम से वशीभूत होकर, एक बार अपने मन को न रोक सका। उसे अपनी इस गिरी हुई अवस्था से ऐसी घृणा हुई कि उसने अपनी गिरावट के कारण इंद्रिय के गोलक को काट कर अलग कर दिया। उसकी उस अवस्था को देख सहस्रों के मन जल गये। डाक्टर ने चिकित्सा की और वह साधु राज़ी हो गया। कुछ समय के बाद मैंने फिर देखा कि उसके आचरण बहुत ही गिर गये थे। इसका कारण क्या था? इंद्रियों को बुरे मार्ग पर ले जाने का कारण मन है। साथ ही उन्हें सीधे मार्ग पर चला कर उन्हें संसार के उपकार का साधन बनाने का ज़रिया भी वही मन है। फिर क्या जितेन्द्रिय होने के लिये पांचों ज्ञानेन्द्रिय के गोलक काट कर फेंक देने की आवश्यकता है? कदाचित् नहीं। ऐसी चेष्टा से, इन्द्रियों का बस में आना कठिन है। क्योंकि गोलक दूर होने से भी मन के द्वारा इंद्रियों का काम होता ही रहता है, इसलिये जितेन्द्रिय होने के लिये इन्द्रियों से पृथक् होने की आवश्यकता नहीं है बल्कि इन्द्रियों को उनके कामों में ही लगा कर मन वश में आ सकता है। जितेन्द्रिय पुरुष के काम बन्द नहीं हो जाते और न उनमें

लोहे की गरम शलाका डालने की आवश्यकता है। उसकी अवस्था ऐसी हो जाती है कि मीठे स्वर से न उसको सुख होता है और न कड़वा शब्द उसे दुःखदायी प्रतीत होता है। उसकी त्वचा में स्पर्श की शक्ति बराबर स्थिर रहती हैं। किन्तु न उसे नरम गदेलों से आनन्द आता है और न ही सख्त लकड़ी व पत्थर पर सोने में उसे कुछ दुख प्रतीत होता है। उसकी दृष्टि बदसूरत और सुन्दर वस्तुओं पर एक जैसी पड़ती है। उसकी जिह्वा को स्वादु चीज की आवश्यकता नहीं होती और न उसे सुगन्धि से खुशी और न दुर्गन्धि में रंज होता है। इन सब इन्द्रियों को केवल साधन मात्र समझता हुआ, ऐसा इन्द्रियजित् पुरुष व्यसनों से दूर रह कर अपने कर्तव्य कर्म को ठीक तौर पर पालन कर सकता है।

इन्द्रियों का विषय बन जाना, हमारा कोई उद्देश्य नहीं है। मनुष्य जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति में जैसे अन्य अनगिनत साधन हैं, उनमें से पांच ज्ञानेन्द्रिय भी पांच प्रकार के साधन मात्र हैं। इस सचाई को न जानते हुए सांसारिक विषयों में लिप्त गृहस्थी पुरुष अपनी आयु को खराब कर बैठते हैं। मुझ से एक बड़े माननीय वकील दोस्त की बातचीत हुई। पहले वह मुझ से धर्म विषय पर वार्तालाप करने को तय्यार न थे फिर यह कहा कि आपके मन्तव्य शायद मेरे साथ न मिलें और साथ ही यह भी कहा कि वह बहस नहीं करना चाहते। तब मैंने निवेदन किया कि बहस न करते हुये, वह केवल मेरे

मन्तव्य सुन लें। इससे उन्हें क्या इनकार हो सकता था? मैंने अपने मन्तव्यों की व्याख्या करके जब सुनायी तो वे स्वयं बोल उठे कि उनके भी वही मन्तव्य हैं। तब मैंने उनसे कहा कि मेरे साथ मिल कर इन कर्तव्यों के फैलाने में सम्मिलित हो। इसका जो उत्तर मेरे माननीय मित्र ने दिया वह मुझे कभी नहीं भूलेगा। 'यह बातें चौथे पद की हैं। इन पर अमल संसार के काम समाप्त करके किया जा सकता है'। अह! कैसे खतरनाक शब्द हैं। मेरे मित्र युवावस्था मे ही हज़ारों रुपये कमाने और सांसारिक प्रतिष्ठा के पीछे भागते हुये ही चल बसे और वह समय न आया जबकि वह संसार के कामों को समाप्त करके परमार्थ के कामों मे लगें। कवि ने कैसा ठीक कहा है 'कारे दुनियां कसे तमाम ना करद' 'किसी ने दुनियां के काम समाप्त नहीं किये'। दुनियां के काम संसार में फंसे रहने से कब समाप्त हो सकते हैं। आज करोड़ों मनुष्य अविद्या में बहे चले जा रहे हैं। वे नहीं समझते कि भोगों से इन्द्रियों को तृप्त करने के यत्न की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इन्द्रियां कभी तृप्त नहीं हो सकतीं, विषय रूपी घृत की आहुति इन्द्रियों की इच्छा रूपी अग्नि को अधिक से अधिक तेज़ करती है। इसलिये गृहस्थ ही में इन्द्रियां वश में आ सकती हैं। गृहस्थ आश्रम में ही मनुष्य मन को जीत सकता है। यदि जंगल में जाने से इन्द्रियां वश में आ सकतीं तो जंगलियों की वह दशा न होती जो दिखलायी देती है।

इसलिये पाठकगण ! गृहस्थ आश्रम के अन्दर ही इन्द्रियों के भोग में सुख और दुःख की भावना को छोड़कर अपने मन को वश में करो। तब तुम्हारे जितेन्द्रिय होने में संदेह न होगा और तब तुम मनुष्य जन्म के कर्तव्य कर्मों को पालन करते हुये सच्चे संन्यास के अधिकारी बन सकोगे। परमात्मा अपनी अपार दया से, हमें अपनी ओर खींचने के लिये साधन दर्शाते हैं। क्या हम सब ज्ञान चक्षु रखते हुये भी अन्धे ही बने रहेंगे। भीतर से आवाज आती है 'नहीं, हमारे ज्ञान नेत्र अवश्य खुलेंगे'।

शब्दार्थ—

(**श्रुत्वा**) संगीत सुन कर, (**स्पृष्ट्वा च**) सुन्दर पदार्थों को छू कर (**दृष्ट्वा च**) सुन्दर रूप को देख कर (**भुक्त्वा**) स्वादिष्ट पदार्थों को खा कर **घ्रात्वा च**) और सुगन्ध पाकर (**यो नरः**) जो निःस्पृह व्यक्ति (**न हृष्यति**) न तो प्रसन्न होता है और (**न ग्लायति**) न विकृत पदार्थ पा कर दुःख मानता है (**सः**) वह (**जितेन्द्रियः**) मनुष्य जितेन्द्रिय (**विज्ञेयः**) समझा जाना चाहिये।

❀
❀❀

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥
मनु. २. ९९

उपदेश

किसान अपने खेत को सींचने के लिये, चरस मोल लेता है, चारों तरफ से देख भाल कर उसका सौदा करता है। अगर एक भी छेद चमडे में हो तो उसे परे फेंक देता है फिर अच्छा चरस लगाकर किस आनन्द से कुंआ चलाता है और अपने खेत को पानी देता है। परंतु ज्यों ही उस चरस में एक छेद हो जाता है त्यों ही किसान निराश हो जाता है। एक छोटा सा सुराख यदि असावधानी से छोड़ दिया जाय तो कुछ समय के पश्चात् सारे चरसे में छेद ही छेद हो जाते हैं। और अधिक समय नहीं व्यतीत होता कि दूसरे नये चरस की आवश्यकता होती है। लगभग यही अवस्था इन्द्रियों की है। एक इन्द्रिय के भी अन्दर यदि छेद हो जाय और उसका झुकाव अपने विषय की ओर हो तो दूसरी इन्द्रियां अपने विषय की ओर जाने से रुक नहीं सकती। इसका परिणाम शनैः शनैः यह होता है कि मनुष्य की सारी बुद्धि नष्ट हो जाती है। जड़ चरसा और मानवीय बुद्धि के अन्दर अन्य सब बातें तो मिल जाती हैं किंतु एक अन्तर रहता है। जड़ चरसा यदि खराब हो जाय, दूसरा नया बाजार से मिल सकता है परंतु इन्द्रिय एक बार खराब हो जायें तो फेंकी नहीं जा सकती और न

उनकी जगह नयी इन्द्रियां मिल सकती हैं। विषयों में फंसी हुई इन्द्रियां चाहे जबरदस्ती वापिस लायी जा सकें और उनके छिद्र चाहे बंद भी कर दिये जावें, फिर भा उनकी तुलना पवित्र, शुद्ध इन्द्रियों की असली अवस्था के साथ नहीं हो सकती तब सब इन्द्रियों को बस में रखना कैसा आवश्यक है, यह जतलाने की आवश्यकता नहीं है।

संसार में होता क्या है ? इस अटल सचाई की उपस्थिति में और इसको अनुभव करते हुये भी मनुष्य इस पर आचरण करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। मैं एक जुडिशियल आफिसर को जानता था जो पंजाब भर में सच्चा और निधड़क प्रसिद्ध था। एक बार एक खास मुकद्दमा उसके न्यायालय में पेश था। एक पक्ष की ओर से उसके पिता महाशय ने सिफारिश की। जुडिशियल आफिसर ने पिता की सिफारिश की कुछ परवाह न करते हुए, मुकद्दमे का निर्णय अपनी बुद्धि के अनुसार न्याय पूर्वक किया। यह जुडिशियल आफिसर त शराब पीने वाला भी था और साथ ही विलासी जीवन व्यतीत करने का आदी था। इन सब निर्बलताओं तथा दुर्गुणों के होते हुए भी उसकी प्रतिष्ठा मेरे दिल में उसके सत्यप्रिय होने के कारण से थी। अन्त में वह प्रतिष्ठा मुझे अपने दिल से दूर करनी पड़ी। एक बार उसका एक शराबी मित्र एक संगीन मुकदमे में पकड़ा गया। वही न्याय प्रिय जुडिशियल अफसर जिसने अपने पिता की सिफारिश की कुछ परवाह न की थी, अपने हमप्याला दोस्त के बचाने के लिये झूठी गवाही पैदा

करते हुए मैंने देखा। और उस कोशिश से उसने अपने मित्र को बचा भी लिया। परंतु क्या उसके पश्चात् वह सचाई पर स्थिर भी रह सका। उसका जीवन जवाब देता है कि कदाचित् नहीं मैंने ऐसे जुडिशियल अफसर भी देखे हैं जो मुकदमों में अपने लिए तो रिश्वत नहीं लेते परंतु जिन अच्छी संस्थाओं के साथ सहानुभूति हो; उनके लिये धन देने वालों के साथ खास रियायतें करते हैं। क्या एक मनुष्य जो कामी है कभी भी सत्यवादी हो सकता है ? और क्या एक पुरुष जिसे जिह्वा का व्यसन है कभी भी स्पर्श दोष से मुक्त हो सकता है। एक इन्द्रिय की गिरावट शेष सब इन्द्रियों को ले डूबती है। कल्पना करो कि तुम्हारे दस नौकर हैं, अगर उनमें से एक भी आज्ञाकारी न रहे तो क्या दूसरों पर तुम्हारा दबाव रह सकता है ? किंतु यदि इन में से एक भी तुम्हारे वश म आजावे तो उसका दृष्टान्त दूसरों को काबू में रखने में तुम्हें मदद देता है। एक इन्द्रिय के भी बेबस होने को साधारण बात न समझो, क्योंकि एक के बिचलने से सब बिचल जाते हैं। बाज मनुष्यों की दिमागी तरक्की को देखकर हम सब मोहित हो जाते हैं और यह समझ लेते हैं कि आला दिमाग मनुष्यों की बदइखलाकियां ध्यान में लाने के योग्य नहीं हैं और इस लिये उनके अनुकरण में स्वयं आला दिमाग बनने का यत्न करते हैं। इस रीस ने संसार को नष्ट कर दिया है। अगर कोई पापी मनुष्य उच्च मानसिक शक्ति रखने वाला है तो यह मत समझो कि पाप मनुष्य को गिराता

नहीं है बल्कि यह समझो कि अगर वह मनुष्य पापी न होता तो उसका दिमाग और भी उच्च और साथ ही शुद्ध भी होता। उच्च से उच्च दिमाग संसार के नाश का कारण है यदि उसके साथ पवित्रता सम्मिलित नहीं है।

प्रिय पाठकगण ! आज से तुम सब इन्द्रियों को एक साथ बस में करने का साधन करो, तब तुम्हारी बुद्धि स्वच्छ रहेगी वह स्वच्छ बुद्धि तुम्हें रास्ते के हरेक गढे से और प्रत्येक ठोकर से सावधान करेगी, ताकि तुम असावधान होकर कहीं विषयों के गुलाम बन कर इधर उधर मारे मारे न फिरो। तब संसार अपने असली स्वरूप में तुम्हारे सामने आयेगा और प्रलोभनों की यथार्थता दिखला सकेगा, जिन में फंसकर आज तक बहुत से अमृतपुत्र नष्ट हो चुके हैं। परमात्मन् ! हम मलिन हृदय अल्प हैं, हमारी शक्ति अल्प और हमारा ज्ञान भी अल्प है। आप ज्ञान के भंडार हो, हम सब के अन्दर ऐसी प्रेरणा करो कि हम पाप कर्मों से सच्ची घृणा का भाव अपने अंदर पैदा करके धर्म, अर्थ और मोक्ष भागी बनने के लिये सच्चा प्रयत्न करते रहा करें।

शब्दार्थ —

(यदि) अगर (सर्वेषां) मनुष्य की सब (इन्द्रियाणां तु) इन्द्रियों में से तो (एक इन्द्रियम्) एक भी ज्ञानेन्द्रिय (क्षरति) विषय भोग में पड़ कर पथभ्रष्ट हो जाती है, (तेन, तो उसके प्रभाव से (अस्य) इस मनुष्य की (प्रज्ञा क्षरति) बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है जैसे कि (दृतेः पात्रात्) फटी हुई मशक से (उदकमिव) पानी बह जाता है।

२१.

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन् नैशमैनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥
मनु० २ । १०२ ॥

उपदेश

मनुष्य का परम उद्देश्य तीनों तापों की परम निवृत्ति बताया गया है । मनुष्य का उद्देश्य यही है कि संसार के अन्दर जिन तीन प्रकार की वृत्तियों से दुःख मिलता है, उससे छुटकारा प्राप्त करे । इसी को मोक्ष कहते हैं । दुःख मनुष्य को क्यों सताते हैं ? इसलिये कि उनके अन्दर अशुद्धता आ जाती है । इसलिये अशुद्धता से पृथक् होना ही अपने असल स्वरूप की स्वच्छता को प्राप्त करना है । मनुष्य पवित्र कैसे हो, अपवित्रता को अपने से कैसे दूर फेंक देवे ? यह कठिन प्रश्न है, जिस के उचित हल पर जीवन के असली उद्देश्य का हासिल करना निर्भर है । जब जीवात्मा स्वभाव से स्वच्छ है तो उसके साथ मलीनता का कैसे सम्बन्ध हुआ ? यदि दर्पण को अन्धेरे के अन्दर रखदें और साथ ही उसकी सुध न लें, तो न केवल उसका स्वरूप ही आंखों में ओझल होजावेगा, बल्कि उसके साफ चेहरे पर जंग और मट्टी के धब्बे लग जावेंगे और तब यदि उसे प्रकाश के सामने किया जाय तो हमें वह वस्तुओं को ठीक ठीक नहीं दिखला सकेगा । इसी तरह पर स्वच्छ जीवात्मा जब कार्य जगत् के बन्धनों के अन्दर फंस जाता है और उसके

चारों ओर सांसारिक अन्वेग ही उसे घेरे रहता है, उस समय उस पर राग, द्वेष, और अस्मिता आदि धब्बे लग जाते हैं। इसके कारण उसे अपना स्वरूप भी यथार्थ अवस्था में दिखाई नहीं देता। इस अपवित्रता से मनुष्य को बचाने के लिये, वेद की आज्ञा के अनुसार भगवान् मनु ने प्रातः और सायं सन्ध्या का बंधन नियत किया है।

इन प्रातः और सायं शब्द से अभिप्राय क्या है? उपनिषत्कार ऋषि बतलाते हैं कि परमात्मा की उपासना जागृति के अन्त और स्वप्न के अन्त में करनी चाहिये। इस लिये सायं से अभिप्राय जागृत अवस्था का अन्त है और प्रातः से अभिप्राय स्वप्न अवस्था का अन्त है। प्रातः से सांसारिक झगड़ों के अन्दर लगा हुआ मनुष्य, इस योग्य नहीं होता कि आत्मा के सम्बन्ध रखने वाली शक्तियों की मलीनता को दूर करने का साहस कर सके। कर्मेन्द्रियां बड़ी तेजी से अपने कार्यों में लग रही हैं और ज्ञानेन्द्रियां अपने विषयों के अंदर फंसी हुई है। अगर उस समय निर्बल मनुष्य उनको इस प्रवाह से रोकना चाहे तो उसके लिये कदाचित् यह असंभव नहीं होता। जिस प्रकार बलवान शरीर के बछेरे प्रारम्भ में बस में नहीं आ सकते परन्तु जब उन्हें चाबुक सवार कुछ समय तक, गोल दायरे का चक्कर लगवाता है तो हंस कर बस में आजाते हैं और तब उन्हें चलने की शिक्षा दी जाती है। इसी तरह पर जब दिन भर विषयों में घूमते घूमते इन्द्रियां थक जाती हैं और थक कर मन को छोड़ देती हैं और मन भी

जीवात्मा को थक कर छोड़ देता है, उस समय पापी से पापी जीवात्मा भी अन्तमुख हो परमात्मा के प्रकाश से सहारा लेकर अपनी नीच अवस्था को अनुभव कर सकता है। इसलिये उस समय का सत्संग परमात्मा से किया हुआ उसे रात भर सुख की नींद सोने के साधन पैदा कर देता है। फिर जब वह प्रातः इन्द्रियों और मन की थकावट को दूर करके उठता है तो वह ठीक समय है जब कि इन्द्रियों और मन के लिये नया बल धारण कर नये सिरे से संसार रूपी युद्ध क्षेत्र में काम क्रोध आदि शत्रुओं के मुकाबिले के लिये तय्यार हो सकता है यही कारण है कि ऋषियों ने वेदों की आज्ञा पर चलते हुए दोनों काल की सन्ध्या का बन्धन हरएक द्विजन्मा अर्थात् आत्मिक साधन के जिज्ञासु पुरुष के लिये नियत किया है। सन्ध्या से अभिप्राय, केवल विशेष मंत्रों का, बिना अर्थ जाप या केवल उनके अर्थ मानसिक विचार नहीं है पर बल्कि संध्या का अभिप्राय इससे बहुत उच्च है। जीवात्मा की मलीनता को दूर करना इसका वास्तविक उद्देश्य है और इसलिये जो साधन आत्मा की मलीनता को दूर करने में सहायक हो सकें उनका सेवन सन्ध्या का मूल अंग है। यही कारण है कि ब्राह्ममुहूर्त में उठने की हरएक धर्मजिज्ञासु के लिये आज्ञा है क्योंकि उस समय कोलाहल से शान्त होने से मनुष्य का मन एक ओर लग सकता है। तब पता लगता है कि उसके अन्दर अपवित्रता ने कहां तक घर कर रक्खा है। जब अपवित्रता का ज्ञान हुआ तो स्वयंमेव उस अपवित्रता को दूर

करने का विचार मन में पैदा होता है। प्राचीन आर्य विद्वानों ने अच्छी प्रकार समझ लिया था कि शरीर, मन और आत्मा का मनुष्य जन्म में बड़ा घनिष्ठ संबध है। इसमें से एक भी अपवित्र रहे तो दूसरे में अपवित्रता पैदा किये बिना नहीं रहता। यही कारण है कि जिज्ञासु के लिये नित्य स्नान, धर्म का एक अंग बताया गया है। मनु जी भी कहते हैं, कि सवेरे सब से पहले शरीर को स्वच्छ करो। शरीर को स्वच्छ करने का आवश्यक परिणाम यह होता है कि इन्द्रियां शुद्धता की ओर प्रवृत्ति होती है। आंखों में कुरूपता और सुन्दरता में भेद करने का बल पैदा होता है। तब दिखावे की सुन्दरता से उसे घृणा होती है। कानों की शक्ति अधिकतर सूक्ष्म होती है और इसी तरह दूसरी इन्द्रिया भी सूक्ष्मता की ओर प्रवृत्त होती हैं। तब यह इन्द्रियां मन को भी अपवित्र स्थानों में जाने से किसी क़दर रोकने का कारण बनती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मन भी जीवात्मा को बाहरी फंसावट से छोड़ देने के लिये बाधित हो जाता है।

प्रिय पाठक गण! मानसिक पवित्रता के लिये प्रातः और सायं और सन्ध्या की कभी भी न छोड़ो। मन्त्रों के पाठ का नाम सन्ध्या नहीं है। उसके अर्थों के पाठ नाम भी सन्ध्या नहीं है? क्यों सन्ध्या मन की मलीनता को दूर करती है। क्या तुम्हारे मन्त्र पाठ से दिल से अशुभ विचार दूर हो गये? अगर नहीं तो समझो तुमने सन्ध्योपासना नहीं की। उपासना के अर्थ समीप होने के हैं। परमात्मा के समीप होना

सन्ध्योपासना का अभिप्राय है। किन्तु परमात्मा शुद्ध स्वरूप है। क्या शुद्ध स्वरूप के समीप अशुद्ध आत्मा कभी हो सकती है ? कदाचित् नहीं। इस लिये सन्ध्या का अभिप्राय ही केवल यह है कि मन, वचन और कर्म द्वारा शुद्धि के लिये यत्न करना। इस लिये शरीर को शुद्ध करने के पश्चात् सत्य से मन को शुद्ध करो और विद्या और तप से आत्मा को शुद्ध करके ज्ञान द्वारा बुद्धि को दिन रात मांजते रहो। बन्धु गण ! शुद्ध स्वरूप परमात्मा अपने अन्दर प्रकाश कर रहे हैं और हम लोग दीवानों की तरह बाहर जीवन उद्देश्य को ढूढते फिरते हैं। बाहर अन्धेरा ही अन्धेरा है। प्रकाश अन्दर है। इस लिये बाहर की सब अपवित्रताओं से दूर होने का यत्न करो ताकि अन्दर घुसकर हम सब उस जीवनदाता ज्योति के दर्शन कर सकें जिससे प्रकाश पाकर फिर मनुष्य अन्धेरे के अन्दर ठहर नहीं सकता। प्रातः और सायं आत्मा की मलीनता को दूर करने के लिये दृढ़ आसन पर बैठने का स्वभाव डालो ताकि शनैः, शनैः शरीर, मन, और आत्मा की शुद्धि होकर हम सब भाई एक दूसरे की सहायता से मुक्ति धाम के अधिकारी बन सके।

शब्दार्थ—

(पूर्वां सन्ध्यां) प्रातःकाल की सन्ध्या का (जपन्) जाप करता हुआ (तिष्ठन्)समाधिस्थ व्यक्ति (नैशम) सारी रात्रि के (एनः) पाप को (व्यपोहति नष्ट कर देता है। (तु) और (पश्चिमां समासीनः) सायंकाल की सन्ध्या में प्रवृत्त हुआ व्यक्ति (दिवाकृतम्) दिनभर में की गयी (मलम्) मलीनता को (हन्ति) मार भगाता है।

२२

नैत्यिके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥

मनु० २ । १०६ ।

उपदेश

मनुष्य के प्राकृतिक भाग को भूख लगती है, उसकी निवृत्ति के लिये तरह तरह के अच्छे से अच्छे फल और अन्न परमात्मा की ओर से दिये गये हैं। प्यास भी प्रकृति का एक भाग है उसकी निवृत्ति के लिये चारों ओर शीतल जल बह रहे हैं। क्या मनुष्य को कहने की आवश्यकता है कि भूख और प्यास के बुझाने में नागा मत करो ? और जब कभी आलस्य या प्रमाद से इन दैनिक कर्तव्यों को पूरा करने में मनुष्य ढील करता है तब ही मनुष्य के शरीर को हानि पहुंचती है। बड़े से बड़ा बलवान् शरीर और अच्छे से अच्छा स्वास्थ्य रखनेवाला मनुष्य भी इन दैनिक कर्तव्यों के पूरा करने में अनियमता करके उसके दंड से नहीं बच सकता। यही अवस्था मन और आत्मा की है। दैनिक अग्निहोत्र की आज्ञा जहां अपवित्र वायु को स्वच्छ करने के लिये है वहां उसकी जड़ में यह विचार भी काम करता है कि मनुष्य वायु को जिस प्रकार अस्वच्छ करते हैं उसी प्रकार प्रयत्न से उस वायु की अपवित्रता को दूर करना भी उचित है। किंतु साथ ही इसके यह दैनिक कर्तव्य उन रोजाना पापों की निवृत्ति के लिये भी है जो कि न जानने की अवस्था में प्रत्येक मनुष्य से प्रतिदिन हो जाते हैं। इस कर्म से बुद्धि निर्मल होकर मन

की अवस्था पवित्र हो जाती है।

वैदिक आदर्श के अनुसार सबसे बढ़कर मनुष्य का दैनिक कर्तव्य ब्रह्म यज्ञ है। दूसरे महायज्ञ केवल इसके सहायक हैं। मुख्य दैनिक कर्तव्य यही है कि जिस तरह मनुष्य के भौतिक शरीर को भूख लगती है इसी प्रकार आत्मिक शरीर को आत्मिक भूख लगती है। अगर उस दैनिक भूख को प्रतिदिन निवृत्त न किया जाय तो मनुष्य की आत्मिक अवस्था भी वैसे ही गिर जाती है जैसे कि भूख लगने पर भौतिक शरीर की अवस्था होती है। इस ब्रह्म यज्ञ अर्थात् वेद रूपी ज्ञान को खुराक से आत्मा की तृप्ति नित्य करनी चाहिये। प्रत्येक काम में अनध्याय संभव है किन्तु क्या शरीर के दूसरे दैनिक कर्तव्यों मे भी कभी नागा हो सकता है? रोग की अवस्था में सम्भव है कि बनावटी जीवन व्यतीत करनेवाले हम मनुष्यों को खुराक बदलने की आवश्यकता हो परंतु कोई भी योग्य वैद्य खुराक को बद नहीं कर सकता। योग्य वैद्य वह समझा जाता है जो कि रोगी के शारीरिक बल को स्थिर रखने के यत्न से किसी तरह उसमें खुराक पहुंचाता रहे। इसी तरह से आत्मिक रोग हो जाने पर ब्रह्म यज्ञ के कर्तव्य से मनुष्य किसी तरह मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक आस्तिक पुरुष का कर्तव्य है कि नित्य प्रति प्रातः और सायं परमात्मा की उपासना के लिये ब्रह्म के ज्ञान की आहुतियों से आत्मिक यज्ञ किया करे। जब शारीरिक रोग होने पर शरीर को खुराक पहुंचाने से कोई भी

मनुष्य नहीं रुकता तो आत्मिक रोग की अवस्था में आत्मिक खुराक से दूर भागना क्या आश्चर्य जनक नहीं है ! किन्तु यह अवस्था इसलिये होती है कि हम सब अपनी वास्तविक अवस्था को त्यागकर बनावटी जीवन बिता रहे हैं। एक बच्चा जब बीमार होता है तो इधर उधर भागने के स्थान पर माता की गोद की ओर हाथ पसारता है और जब माता उसे गोद में ले लेती है तो वह विश्वास के साथ अपने रोग को भूल जाता है जगत् माता से बढ़ कर हमारे साथ किस सांसारिक माता का प्रेम हो सकता है ? जगत् माता की गोद हमारे लिये हर समय खुली है। फिर शोक ! हम शारीरिक रोग का बहाना करके उस प्रेम भरी गोद मे जाने से संकोच करते हैं और अपने लिये हजारों तरह के क्लेश मोल लेते हैं। जब शरीर रोग ग्रस्त होता है तो योग्य वैद्य खुराक बंद नहीं करता बल्कि बोझल भोजन को बंद करके हलकी खुराक रोगी के लिये निश्चित् करता है। किन्तु हम लोग कैसे मूर्ख हैं कि उस समय जब कि हल्की से हलकी खुराक की आवश्यकता होती है; भोजन को बिलकुल जवाब दे बैठते हैं। जो रोगी नित्यप्रति शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य है उसका यह बहाना कि बीमारी के कारण से परमात्मा की उपासना नहीं कर सकता, कैसा व्यर्थ है। मैंने हरि भक्तों के अन्तिम क्षण देखे और उनके विश्वास को देखकर अजब असर पैदा हुआ। ब्रह्मज्ञानी ऋषि कहते हैं कि—
'न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते'।

उसको जिह्वा से वर्णन नहीं कर सकते । वह केवल अन्तःकरण से ग्रहण करने के योग्य है तब उस आनन्द के लिये निर्बल से निर्बल शारीरिक अवस्था बाधक नहीं हो सकती । क्या हम नित्यप्रति नहीं देखते कि बरसों का कमाया हुआ शरीर दो दिन उचित खुराक न मिलने से गिर जाता है । तब क्या संदेह है कि बरसों की आत्मिक कमाई एक दिन की असावधानी से नष्ट हो सकती है । यही कारण है कि दोनों समय आत्मिक सत्संग के लिये आज्ञा की गई है और उसमें अनध्याय को कदाचित् स्थान नहीं दिया गया है । जो मनुष्य परमात्मा की नित्यप्रति उपासना से (ज्यादा काम या रोग के बहाने पर) बचने का यत्न करते हैं वह अपने लिये विशेषतः बीमारी की सामग्री मोल लेते हैं ।

प्रिय पाठकगण ! संसार चक्र दिन रात चल रहा है, इसके अन्दर ठहरने की गुञ्जाइश नहीं है । हर पल हमें नीचे या ऊपर ले जाने के लिये वह तय्यार खड़ा है अगर हम ऊपर की ओर न चलेंगे तो निश्चय से नीचे गिरना होगा । नीचे चलने के लिये किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती । नीचे ले जाने के लिये हमारे चरों ओर सामग्री दिखाई देती है । परन्तु ऊपर चलने के लिये विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता है । पर्वत के नीचे जाने के लिये सिवाय एक बार पैर नीचे की ओर डाल देने के क्या किसी और गति की आवश्यकता होती है ? परंतु पहाड़ पर चढ़ने के लिये बड़ी भारी हिम्मत की आवश्यकता है ।

हां, जब किसी हद तक ऊपर चढ़ जावें और अभ्यास हो जावे तो फिर आपसे आप पैर ऊपर की ओर उठता है। ज्यों ज्यों अभ्यास से बल और उत्साह बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों ऊपर के सुन्दर दृश्य मनुष्य को अपनी ओर खींचते हैं। परंतु क्या ऊपर चलते हुये मनुष्य एक घंटे के लिये भी रुक सकता है? एक बार ऊपर की ओर पग उठाओ, जब तक पहाड़ की चोटी पर न पहुंच जाओ तब तक निश्चिन्त नहीं बैठ सकते। इसी तरह आत्मिक पर्वत की यात्रा में भी बीच में रुकने का अर्थ मृत्यु है। जिस प्रकार पर्वत के मार्ग में रुकते ही और नीचे नजर करते ही चक्कर आता है और घबराया हुआ मनुष्य हजारों फुट नीचे गिर कर चकनाचूर हो जाता है इसी प्रकार आत्मिक उन्नति के शिखर पर चलते हुये जिज्ञासु की अवस्था होती है। प्यारे मित्रो! इस विकट तथापि आवश्यक मार्ग पर चलते हुए ठहरने के विचार को भुलादो, जिससे कि बिना रोकटोक शिखर पर पहुंच कर तुम, अमर जीवन, को पा सको।

शब्दार्थ—

(नैत्यिके) दैनिक कर्तव्य की पूर्ति में (अनध्यायः) छुट्टी, मुआफी (नास्ति) नहीं है (हि) क्योंकि (तत्) उसे (ब्रह्मसत्रम्) ब्रह्मयज्ञ, प्रथमयज्ञ (स्मृतम्) कहा है। (अनध्यायवषट्कृतम्) अनध्याय में भी स्वाहा किया हुआ और (ब्रह्माहुतिहुतम्) वेद मंत्रों से उच्चारित आहुतियों से आहुत यह ब्रह्मयज्ञ (पुण्यम्) पुण्यप्रद होता है।

२३

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् नचान्यायेन पृच्छेतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥

मनु. २ । ११ ॥

उपदेश

इस समय प्रायः संसार को बहुत बोलने वालों ने वश में कर रक्खा है। पश्चिमीय अनुकरण में प्रत्येक शिक्षित भारतवासी सारे संसार को शिक्षा देना अपना कर्तव्य समझता है। और जो गरीब चुप रहने का स्वभाव रखते हैं उनको भी इस प्रकार तंग किया जाता है कि वे बोलने के लिये बाधित होजाते हैं। इस समय भारतवर्ष में विशेषतः उपदेशक ही उपदेशक दिखायी देते हैं। हर प्रकार के सुधार के लिये धाराप्रवाह बक्तृतायें होती हैं। परन्तु शोक है कि इतने अधिक उपदेशकों के होते हुए भी किसी प्रकार की भी दशा सुधरती दिखायी नहीं देती। इसका कारण क्या है? वही मनु का निश्चित् किया हुआ सिद्धान्त कि बिना पूछे नहीं बोलना चाहिये। जब तक कि किसी को यह अनुभव न हो कि परमात्मा की ओर से उसे किसी कार्य के लिये विशेष बल वाला है और जब तक उसने वैदिक साधनों से यह निश्चय न कर लिया हो कि उसका ऐसा विचार धोखे के आधार पर नहीं है बल्कि उसके पूर्व कर्मों का ही परिणाम है, तब तक उसे मनुष्यों के सुधार के लिये क्षेत्र में कदाचित् नहीं उतारना चाहिये। ऐसा मनुष्य जब कार्य आरम्भ करेगा

सब अपने बल को सोच समझ कर प्रयोग करेगा आर्यावर्त के प्राचीन ऋषियों के इतिहास पढ़ जाइये। आपको ज्ञात होगा कि वे अपने आश्रम में बैठे हुए ही उपदेश किया करते थे और वहां भी उपदेश देने से पहले जिज्ञासु की योग्यता की पड़ताल करके ही, पात्र के अतिरिक्त किसी को सम्बोधन नहीं करते थे। ईसा ने भी अपने उपदेशों में यही कहा था कि 'सूअर के आगे मोती नहीं बखेरने चाहियें" परन्तु इस समय उनके अनुयायी स्टेज पर खड़े होकर हर अच्छे बुरे को अपने जत्थे के अन्दर बुलाने का यत्न कर रहे हैं। इन ईसाइयों के अनुकरण में आर्य-सन्तान ने भी अपने काम करने का ढंग बना छोड़ा है। आर्यसमाज के सभासदों को न्यून से न्यून मनु जी के ऊपर कहे हुये वाक्य का बड़ा मान करना चाहिये ऋषि दयानन्द का अधिकार था कि वह प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रबल आकर्षण शक्ति से खींचने की कोशिश करते। परंतु यहां प्रत्येक बुरा भला इसी अधिकार के साथ खड़ा होता है जो कि एक सच्चे संन्यासी की ही शोभा है। इस में सन्देह नहीं कि उत्तम उपदेशकों के अभाव से ही संसार के अन्दर अन्धकार फैलाता है परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि जब तक सच्ची श्रद्धा से सुनने वाले श्रोता नहीं होते तब तक सच्चे उपदेशक का यत्न भी बहुत कम फललाता है, बुद्धिमान् किसान भूमि में बीज बोने से पहले खाद आदि डाल और हल चला कर भूमि को इस योग्य बना लेता है, जिससे बीज बोने से पूरा लाभ हो सके। इसी तरह पूर्ण प्रत्येक उपदेशक के लिये आवश्यक है कि पहले इसके कि वह मनुष्यों को

उपदेश देने के लिये उद्यत हो उनका क्रियात्मक जीवन ऐसा बना ले कि वह सुगमता से उसके उपदेश को ग्रहण कर सकें। परन्तु जहां प्रत्येक मनुष्य अपने आप को उपदेश देने के योग्य समझता हो और उपदेश सुनने के लिये कोई भी तय्यार न हो वहां यदि बहुत ही दुर्दशा हो तो आश्चर्य नहीं समझना चाहिये। और भारतवर्ष में प्रत्येक मनुष्य क्यों अपने आपको उपदेशक समझता है? इसलिये कि उनके अन्दर स्वयं क्रियात्मक जीवन बहुत कम देखा जाता है और जिनके अन्दर क्रियात्मक जीवन बहुत कम देखा जाता है और जिनके अन्दर क्रियात्मक जीवन न होवे सिवाय जिह्वा के और किस इन्द्रिय का प्रयोग कर सकते हैं? हरेक मनुष्य को जबर्दस्ती सुनाकर उसे सीधे मार्ग पर लाने वाले संसार में बहुत कम मनुष्य हैं। यही कारण है कि पूर्ण वैरागी के लिये संन्यास आश्रम में प्रवेश होने की आज्ञा थी और उपदेश का अधिकार भी उसी को था। और वह इस लिये कि संन्यासी हर प्रकार के दिखावे से मुक्त हुआ करता है। न उसे आत्मसम्मान का विचार है और न किसी के पक्षपात का विचार। वह हर समय सत्य के प्रचार में आरूढ़ रहता है और इसलिये आवश्कता के समय केवल वही करता है। उपदेशक बड़ा दृढ़ हृदय होना चाहिये इसलिये मनु जी की आज्ञा है कि जहां अन्यांय से कुछ पूछा जाय वहां भी कुछ उत्तर न देना चाहिये। भारतवर्ष के प्रतिष्ठित महानुभावों में श्री बहराम जी मालावारी पारसी की भी गणना है। यह पहले सज्जन हैं जिन्होंने गवर्नमेंट के खिताब मिलनेपर विशेष आत्मिक सिद्धान्तों के अनुसार उनके ग्रहण करने से इन्कार कर दिया था। उनके

विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि एक अंगरेज साथी यात्री ने बड़े अभिमान और घृणा के ढंग पर उनका नाम पूछा तो उन्होंने उत्तर में मौन से काम लिया। अर्थात् जसे को तैसा जवाब देना एक बुद्धिमान् का ढंग नहीं होना चाहिये और नहीं दब कर बोलना एक धार्मिक मनुष्य का। यदि अन्याय से जबरदस्ती पूछा जाय तो जहां क्रोध को समीप न आने दे वहां नेक पुरुष के लिये यह भी आज्ञा है कि ऐसी अवस्था में बिलकुल बोले ही नहीं। जिससे कि उसके वचनों पर किसी प्रकार का भी बाह्य प्रभाव न पड़ सके। केवल दिखावा और व्यर्थ प्रलाप के जीवन में तो मनुष्य भला पशु पक्षियों का क्या मुकाबिला कर सकेगा। स्वाभाविक ताज जो विशेष चरिन्द्रों को मिला है क्या उसके मुकाबिले में दुनिया के बड़े से बड़े ताज का कोई वक़्त है ? क्या मोर की मस्तानी चाल का आज तक किसी मनुष्य ने मुकाबिला किया है। क्या कोयल की हृदयवेधन सुरीली आवाज का उत्तर कुछ भी मानवीय जगत् में उपस्थित है ?

प्रिय ! पाठकगण ! थोड़ी देर के लिये विचार करो कि हम सब किस गढ़े में गिरे चले जाते हैं।

वेद भगवान् ने बतलाया है कि सारे संसार का प्राण वाणी है। परमात्मा के किये हुये ज्ञान के भंडार वेद के प्रकाश करने का साधन वही वाणी (इमाम् वाचम्) है। इसलिये उसकी रक्षा के लिये हर समय दृढ़ता से सचेत रहना चाहिये। बहुमूल्य वस्तु को आवश्कता के बिना बुद्धिमान् मनुष्य खर्च नहीं करता। जिस पर संसार की भलाई और बुराई अधिक निर्भर हो उसके प्रयोग में जितना सावधान रहे थोड़ा है।

मनुष्य को एक एक पल परमात्मा के समीप पहुंचने के लिये दिया गया है। यह कर्मयोनी इसलिये दी गई है कि मनुष्य अपने आदर्श की ओर चल सके। मार्ग विकट और दूर है। मानवीय आयु इस मार्ग की कठिनाइयों का अनुमान लगाकर निश्चित की गयी है। ऐसे उत्तम समय को भी अगर हम व्यर्थ दिखावे और व्यर्थ प्रलाप में गवावें तो हमसे बढ़कर मूर्ख कौन है ? वाणी को जितना अधिक बखेरा जावे उतना ही उसका बल कम हो जाता है। जितनी उसकी रक्षा की जाय और जितना उसका बेमौ का प्रयोग बन्द किया जाय उतना ही उसका बल बढ़ता है। इस लिये भारतवर्ष के हरेक समाजसंशोधक का कर्तव्य है कि वह अपनी वाणी का आवश्यकतानुसार ही प्रयोग करे और वह तब हो सकता है जबकि अभिमान, प्रतिष्ठा और दिखावे के विचारों को दिल से निकाल दिया जाय। दयासागर ! हम सब भारत-निवासी गुमराह हैं, अपने कर्तव्य को भूले हुये हैं। जल, वायु, अग्नि और पृथिवी का अनन्त दान देने वाले आप ही समर्थ हैं कि हमारे मन्द कर्मों को दृष्टि में रखते हुये, हम सब को ब्रह्मचर्य का सर्वोत्तम दान दें। जिससे हम सब अपनी वाणी को वश में करते हुये आपकी आज्ञा पालन करने के योग्य होकर अपने और अपने भाइयों (सब प्राणधारियों) के कल्याण का साधन बन सकें।

शब्दार्थ—

(अपृष्टः) मनुष्य बिना पूछे (कस्यचित् न ब्रूयात्) किसी से वार्तालाप न करे (न च) और नहीं (अन्यायेन पृच्छतः) अन्याय से पूछने वाले के साथ बात करे । अपितु (मेधावी) बुद्धिमान् मनुष्य (जानन्नपि) जानकर हो कर भी इन लोगों के साथ (जड़वत् आचरेत्) जड़ मूर्ख को तरह आचरण करे ।

२४

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥

मनु० २ । १३६ ॥

उपदेश

आज कल धन सारी दुनिया पर राज्य कर रहा है। अमेरिका के धनाढ्य हर प्रकार की ताकत को खरीदने के दावेदार है । फ्रांस के 'जैकोलियस लबाड़ी' (Jacolius Lebadi) ने धन के द्वारा अफ्रीका के मरुस्थल का एक हिस्सा मोल लिया और अपने आपको उस टुकड़े का राजा घोषित कर दिया। आखिर इस समय राज्य निर्भर भी तो धन पर ही है । अध्यात्मिक तौर पर दौलत को तुच्छ साबित करते हुये भी आज रुपये का सारी दुनिया में राज्य नजर आता है । आज कल के जंगों और मुहिमों का निभर भी रुपये पर ही है । जो जाति पर्याप्त धन नहीं रखती वह प्रचुर शस्त्र खरीद नहीं सकती। इसलिये लड़ाई के समय अपनी फौज को निश्चिन्तता के साथ आगे नहीं बढ़ा सकती । जिधर देखो उधर रुपये का ही राज्य आज दिखाई देता है । यद्यपि पाप से कमाया हुआ धन, देने और लेने वाले दोनों को नष्ट कर देता है तो भी ईमानदारी से कमाया हुआ धन भी तो संसार में मौजूद है और उसको पूरी ताकत मान लेने में कोई भी कठिनता नहीं है । इसलिये यदि ध्यान से देखा जाय तो मनु महाराज का कथन सत्य है कि सबसे प्रथम मान के योग्य बल धन है । जैकोलियस लबाडी

ने धन के कारण अपने आप शहनशाह का पद लिया। परंतु संसार के पुश्तैनी मुकुटधारियों के मुकाबिले में उसकी क्या हस्ती है। जिसके सम्बन्धी बहुत हैं और वह भी परस्पर इत्तफाक रखने वाले हैं, उस मनुष्य के मुकाबिले में धनवान् की कुछ हैसियत नहीं है। धन कमाया जा सकता है परंतु संबंधी एकत्र नहीं हो सकते। धन को नष्ट होते देर नहीं लगती पर सम्बंधियों के खात्मे के लिये समय चाहिये। इस समय भी देखा जाता है कि धनवान् की अपेक्षा खान्दानी मनुष्यों का अधिक मान किया जाता है। योरूप के सभ्य राष्ट्रों में अब तक खान्दानी मनुष्यों को धनवानों से मुख्यता दी जाती है। इस मुख्यता के मूल्य की अगर पड़ताल की जावे तो उसकी तह में सम्बन्धियों की बुजुर्गी ही काम करती दिखायी देती है इंग्लिस्तान के पुराने खान्दानी धनवानों की प्रतिष्ठा का कारण उनके जबर्दस्त रिश्तेदार ही थे। इस लिये धन बल से बन्धु बल को मुख्यताओं में मनु जी ने बड़े अधिक अनुभव से काम लिया है।

वैदिक कर्म धन और रिश्तेदारी दोनों के घमंड को तोड़ने वाले हैं। पवित्र कर्म मनुष्य को हर समाज में बड़ा बना देते हैं। मैंने ऐसे ईमानदार मनुष्य देखे हैं जिनका मान, धनाढ्यों और खान्दानी मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ज्यादा किया जाता है। नेक मनुष्यों के सामने बड़े से बड़े धनाढ्यों को स्वयमेव झुकना पड़ता है। भारतवर्ष के अन्दर प्राचीन समय में भिखमंगे ब्राह्मणों का निडर छत्रपति महाराजों को उनके कर्मों के लिये

डांट बताकर कम्पायमान करना इसी नियम का परिणाम था। आज भी बुरे स्वभाव के अमीर और खान्दानी मनुष्य नेक काम करने वाले पुरुषों के आगे लज्जित हो जाते हैं। धन और बन्धुबल का केवल घमण्ड ही घमण्ड है परंतु अपने कर्मों पर प्रत्येक पुरुष पूरा भरोसा कर सकता है। कवि ने क्या अच्छा कहा है ? 'कोई नहीं जावे साथ, धर्म जावे साथ' इस लोक में तो प्रत्यक्ष देखने में आता है कि कर्म प्रधान है। गोसांई तुलसीदास जी कहते हैं—

'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा ॥

परंतु परलोक में भी कर्म सहायक होते हैं। अच्छे कर्म करने वाले मनुष्यों में भी अनुभव का बड़ा पद है। पहले तीनों गुणों से बढ़कर आयु का मान होना चाहिए और आयु का हिसाब वर्षों की अपेक्षा न होकर अनुभव की अपेक्षा होना चाहिये। इसलिये मनु भगवान् ने कहा है कि बुजुर्ग वह है जो बुद्धिमान् है। वह नहीं, जिसके कि बाल सफेद हो गये हों। परंतु सबसे बढ़कर मान के योग्य विद्या है कवि ने क्या अच्छा कहा है—

'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्रपूज्यते।

राजा का मान केवल अपने राज्य तक ही सीमित रहता परंतु आचरणशील विद्वान् का मान हर जगह होता है।

प्रिय पाठकगण! धन को ईमानदारी के साथ पैदा करने

का अवश्य यत्न करो क्योंकि वह मामूली सांसारिक मनुष्यों की आवश्यकताओं के दूर करने का कारण है। अपने बन्धुओं और इष्ट मित्रों को भी प्रसन्न रखकर उनकी सहायता पर भरोसा रक्खो, क्योंकि कष्ट के समय वे तुम्हारे सहायक हो सकते हैं। अपने कर्मों को भी नेक बनाओ और सदैव पुरुषार्थी रह कर हर तरह से कामों को पूर्ण करो, क्योंकि बन्धुओं की अपेक्षा अपने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल पर मनुष्य अधिक विश्वास कर सकता है। बड़ी आयु के अनुभवी मनुष्यों से न केवल आयु बढ़ाने के गुर सीखने का यत्न करो। इन सब से बढ़कर दिन रात तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में यत्न करते रहो, क्योंकि ऊपर कहे हुए प्रत्येक गुण की नींव उसी पर रक्खी गई है। बिना विद्या के; दौलत, खान्दान, नेक कर्म और अनुभव, बजाय तुम्हारे सहायक होने के उलटा तुम्हें दुःखसागर में डुबो देने वाले हो सकते हैं। यही कारण है कि महात्मा लोग सदैव अविद्या के नाश और विद्या के प्रकाश का उपदेश देते रहे विद्या की खोज कहां करें ? संसार में बड़े से बड़े विद्वानों को गिरते हुये हम प्रत्यक्ष देखते हैं। फिर कैसे विद्या पर भरोसा करें ? यह अविश्वास का नारा है। विद्या को जड़ जगत् के अन्दर खोजते हुये तुम कैसे प्राप्त कर सकते हो ? विद्या की तलाश में सर्व विद्याओं के भंडार, ज्ञान के स्रोत, परमात्मा की शरण में जाने की आवश्यकता है। चेतन के लिये जड़ की शरण लेना बुद्धिमत्ता नहीं है। ज्ञान स्वरूप परमात्मा की शरण

लेकर उसी से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की अभिलाषा करते हुए जब तुम तत्त्वज्ञानी बनोगे तब तुम्हारे लिये धन, खान्दान, आचरण और आयु सब के सब सुखदायी होंगे और तुम अपने चेतन-स्वरूप को समझ कर जड़ प्रकृति के अन्धकार से पृथक् होने का यत्न करोगे। उस यत्न के आरम्भ में तुम्हें ज्ञानस्वरूप के प्रकाश के दर्शन होंगे और इसी प्रकार तुम जन्म मरण के दुःख से छुटकारा पा सकोगे।

शब्दार्थ—

(वित्तम्) सचाई से कमाया हुआ धन (बन्धुः) सम्बन्धी (वयः) आयु (कर्म) उत्तम आचरण और (विद्या भवति पंचमी) और पांचवीं विद्या , ज्ञान (एतानिमान्यस्थानानि) यह पाच वस्तुएँ सम्मान के साधन हैं (यद् यद् उत्तरम्) इनमें से हर एक से उसके बाद का (गरीयः) बड़ा है अधिक महत्व रखता है और विद्या सर्वाधिक महत्व रखती है।

❀

❀ ❀

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥

मनु० २ । १५६ । १६० ॥

उपदेश

जिन मनुष्यों के वाणी और मन, पवित्र और उनके वश में भी हैं उन्हीं को वेदान्त का अमल फल मिलता है। यथार्थ ज्ञान के लिये क्यों ऋषि और महात्मा हर समय और हर देश में व्याकुल हो भटकते फिरते रहे हैं? इसलिये कि संसार में चारों ओर दुःख और हाहाकार फैला हुआ है। उसको दूर करने का नुस्खा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति से मिलता है। ऋषि कहते हैं ज्ञान ही मुक्ति का साधन है परंतु उस ज्ञान तक पहुंचने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है उन पर आचरण किये बिना मुक्ति की ओर एक पग उठाना भी असम्भव है। वे साधन क्या हैं? उनका असल सिद्धान्त मनु जी ने ऊपर श्लोक मे वर्णन कर दिया है। प्रत्येक वासना का उत्पत्ति स्थान मन है। जब तक मन के अन्दर कोई वासना उत्पन्न नहीं होती तब तक उसके बाहर जाने का कोई गुमान भी नहीं होता। मन ही सारी इन्द्रियों को चलाता है इसलिये इन्द्रियां उसी रंग मे रंगी जाती हैं जिनसे कि मन प्रभावित होता है। इसलिये सबसे प्रथम आवश्यक है कि मन को वश में किया

जाय। इसी विषय पर आचरण करते हुये जिसने संसार के अन्दर कोई बड़ा शारीरिक, सामाजिक या आत्मिक कार्य पूर्ण किया है उसकी सफलता की तह में दम ही काम करता हुआ दिखाई देता है। परंतु केवल मन को वश में करने से मनुष्य अपने असली उद्देश्य की ओर नहीं चल सकता। मन के वश में होने का निश्चित कारण दुःख की निवृत्ति नहीं है और जब तक दुःख दूर न हो परमानन्द की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। जिस तरह प्राकृतिक जगत् में देखने में आता है कि जब तक अशुद्ध वायु को अग्नि के द्वारा बिलकुल निकाला नहीं जाता तब तक उसके स्थान में शुद्ध वायु प्रवेश नहीं करती इसी तरह जब तक कि मन के अन्दर से दुर्वासनाओं को निकालने में सफलता नहीं होती तब उनका स्थान शुद्ध सकल्प नहीं ले सकते। संसार का इतिहास दृष्टान्तों से भरा हुआ है जिनके पढ़ने से पता लगता है कि मन पर काबू पाने वालों ने किसी समय विशेष मनुष्यों के समुदाय का नाश कर दिया है। जिन मनुष्यों ने अपने मन के विचारों को अपने समीप के अज़ीज़ों तक प्रगट नहीं होने दिया उनकी बाह्य सफलता ने जगत् को अचम्भे में डाल दिया है किन्तु उनको अपने अन्दर किस प्रकार असफलता हुई और अन्त में न केवल दूसरे मनुष्यों के लिये ही बल्कि स्वयं अपने लिये भी उनके कर्म किस प्रकार दुःखदायी सिद्ध हुए इसके बतलाने की पढ़े लिखों को आवश्यकता नहीं है, तब आवश्यक है कि मन

को वश में करने के पश्चात् एक मंजिल आगे चला जाये और उस वशीभूत मन को शुद्ध करने का भी यत्न किया जाय। मन की शुद्धि से ही सारी आन्तरिक शुद्धि होती है। जिन बुरी वासनाओं को पहले नीतीमान् पुरुष अपनी नीती के बल से दबा कर अन्दर अन्दर जजब कर लेते थे ताकि उनका प्रकाश कहीं उन्हें निन्दित न कर दे, वे बुरी वासनाएं अब उसके मन के अन्दर पैदा ही नहीं होती। जब शुद्ध मन के अन्दर अशुद्ध वासनाओं के लिये स्थान नहीं रहता तब मनुष्य अपने अन्दर शान्ति का राज्य फैलाने में सफल होता है। किन्तु बाहर अशान्ति बनी ही रहे तो फिर शान्त आत्मा की शान्ति में विघ्न पड़ने का डर है। इसलिये जिस प्रकार मन को वश में किया था उसी प्रकार वाणी को वश मे करना चाहिये। मन के वश में आजाने पर भी जिस प्रकार उसको शुद्ध किये बिना आन्तरिक शान्ति नहीं होती, उसी प्रकार वाणी के वश होने पर भी जब तक उसे शुद्ध न किया जाय तब तक बाह्य संसार के अन्दर शान्ति नहीं फैल सकती। वाणी के वश में आजाने से सम्भव है कि मनुष्य दूसरों को धोखा देकर कुछ समय के लिये उनको वश में करले परन्तु जब बेबसी की अवस्था में वाणी काम करेगी उस समय चारों ओर अपवित्र प्रभाव फैलाकर संसार को सख्त अशान्ति में डालने का कारण होंगे। इसलिये वाणी को वश में करने के साथ ही उसकी शुद्धि का प्रयत्न भी करना चाहिये। जिससे, जब मनुष्य बोले, निडर होकर अपने

विचारों का प्रकाश कर सके। प्रश्न फिर भी यही बना रहता है कि मन को किस प्रकार वश में करे और उसे किस प्रकार शुद्ध करे ? दिन रात संसार के कल्याण की इच्छा मन में उठाना मन की शुद्धि का साधन है और इसी से अन्त में मन वश में आ जाता है। शुद्ध मन बिना किसी प्रयत्न के स्वयमेव वश में आ जाता है और यह शुद्धि अहिंसा व्रत पालने से प्राप्त होती है। फिर वाणी को कैसे वश में करें ? मनु जी बतलाते हैं कि शब्द का उच्चारण 'स्पष्ट' करो। जिनका उच्चारण स्पष्ट नहीं, उन्हें प्रत्येक अपवित्र शब्द के प्रयोग का स्वभाव शनैः शनैः हो जाता है। स्पष्ट उच्चारण करने वाला मनुष्य समझता है कि वह क्या बोल रहा है और इसलिये अपने उत्तरदायित्व को समझ कर बोलता है तब उसकी वाणी स्वयमेव मीठी हो जाती है और इसका यही परिणाम वाणी की शुद्धि होती है।

प्रिय पाठकगण ! तुम किसी भाषा के जानने वाले हो किंतु उसका स्पष्ट उच्चारण करना सीखो। तुम्हारे शब्द संदेहजनक और भ्रम में डालने वाले न हों। तब स्वयमेव तुम्हारी वाणी में शुद्धि प्रवेश करेगी, परंतु यह असम्भव है जब तक कि मन शुद्ध न हो। मन को शुद्ध करने वाले बड़े बड़े नीतिमानो ! तुम्हारा मन काबू करना व्यर्थ है जब तक कि तुम उसे सत्य से मांज कर शुद्ध नहीं करते। 'मनः सत्येन शुध्यति' कैसा अभिप्राय पूर्ण वाक्य है। जब तक तुम्हारे विचार सत्य से मजे हुये नहीं होते तब तक मन की शुद्धि कठिन है और मन की शुद्धि के बिना

वाणी कैसे शुद्ध हो सकती है और बगैर शुद्धि के वाणी वश में कैसे आ सकती है? इसलिये आओ! हम सब मिल कर वाणी की पवित्रता की नींव डालें और एक दूसरे के मन को शुद्ध होने के योग्य बनाते हुये शुद्ध आचार की नींव डालें ताकि चेतन जगत् के अन्दर शान्ति का राज्य आजाये जिससे जड़ जगत् स्वयमेव शांत होकर मुक्ति के मार्ग में रुकावट सिद्ध न हो।

शब्दार्थ—

(धर्ममिच्छता) धर्म के अभिलाषी पुरुष को (भूताना) जीवों का प्राणियों का (श्रेयः अनुशासनम्) कल्याणकारी शिक्षण (अहिंसयैव) अहिंसा के द्वारा ही, दया भाव से (कार्यम्) करना चाहिये। (चैव) और इसके लिये (मधुरा) मीठी और (श्लक्ष्णा) शुद्ध सुन्दर (वाक् प्रयोज्या) वाणी का प्रयोग करना चाहिये।

(यस्य) जिस धार्मिक पुरुष के (वाङ्मनसे) मन और वाणी (शुद्धे)शुद्ध पवित्र विचार वाले हैं (सर्वदा च सम्यग्गुप्ते) और हमेशा संयम में रहने वाले हैं (स वै) वह मनुष्य निश्चय से (सर्व वेदान्तोपगतं फलम) वेदान्त के सारे यथार्थ फल को, मोक्ष को (अवाप्नोति) प्राप्त करता है।

अनुक्रमणिका